TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

THE BOOK WAS
DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180079

UNIVERSAL
LIBRARY

लाल और पीला

ख़्वाजा अहमद अब्बास

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद - 1

OUP-787—13-6-75—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83 I Accession No.

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

लाल और पीला

ख्वाजा अहमद अब्बास

नीलाभ प्रकाशन गृह
इलाहाबाद—१

प्रथम संस्करण १९५७

मूल्य [redacted]

प्रकाशक

नीलाभ प्रकाशन गृह, ५ खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद – १

मुद्रक

प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स, ३ क्लाइव रोड, इलाहाबाद।

अनुक्रम

ख्वाजा अहमद अब्बास	५
डेड लेटर	३३
अलिफ़ लैला १९५६	४६
कार्टून	७५
ब्वाय	९०
मैं और वह	१०२
चिराग़ तले अँधेरा	११४
दिया जले सारी रात	१२८
भारत माता के पाँच रूप	१३९
गेहूँ और गुलाब	१६५
लाल और पीला	२१५

ख्वाजा अहमद अब्बास

सालिहा आबिद हुसैन

खुलता हुआ गेहुआँ रंग, छोटी-छोटी काली, पैनी और चतुर, मेधावी आँखें, किंचित मोटी नाक, मामूली ओठ और मुँह, चौड़ा माथा, जिसको बालों की बेवक्त जुदाई ने और अधिक चौड़ा कर दिया है। गंजा सर जिसके चारों तरफ़ बालों की झालर में सियाही से अधिक सफेदी झलकती है। छोटी-छोटी मूँछें, जिनकी कालिमा को सफ़ेदी दिन पर दिन दबा रही है। औसत से कुछ छोटा क़द, चेहरे पर गाम्भीर्य्य और चिन्तन के लक्षण...यह है अब्बास—ख्वाजा अहमद अब्बास! पत्रकार और साहित्यकार, सिने-स्टोरी-राइटर, फ़िल्म डायरेक्टर और प्रोड्यूसर, वक्ता और लेखक, जिसे ख्याति और लोकप्रियता भी प्राप्त है और जिसे गालियाँ भी मिलती हैं। जो मशहूर भी है और बदनाम भी। जो प्रगतिशील होते हुए भी प्रगतिशीलों पर कड़ी-से-कड़ी नुक्ताचीनी से नहीं चूकता, जो राष्ट्रवादी होने के बावजूद राष्ट्रीय सरकार की कड़ी आलोचना करता है, जो जवाहर लाल का भक्त और

प्रेमी होते हुए, उन पर एतराज़ भी करता रहता है। जिससे अपने भी रुष्ट हैं और बेगाने भी नाराज़, पर दोनों को जिसकी क़द्र करनी पड़ती है।

अब्बास की उम्र का अन्दाज़ा लोग अक्सर बड़ा ग़लत करते हैं। उसके सफ़ेद बाल, गंजा सर और बूढ़ों जैसी सूझ-बूझ लोगों को भ्रम में डाल देती है, किन्तु उसकी आँखों की चमक, शर्मीली मुस्कराहट और बच्चों की-सी मासूम हँसी इस भेद को खोल देती है कि उसकी आयु उससे कहीं कम है, जितनी कि दीखती है। वास्तव में क़ौम के दर्द, देश-प्रेम और सेवा की लगन ने उसे चालीस वर्ष की आयु में बूढ़ा बना दिया है।

अब्बास उर्दू के युग प्रवर्तक कवि मौलाना अलताफ़ हुसैन 'हाली' का निकट सम्बन्धी है। उसके नाना ख्वाजा सज्जाद हुसैन 'हाली' के छोटे बेटे थे और उसके पिता ख्वाजा ग़ुलामुस्सिब्तैन का भी 'हाली' से नज़दीकी रिश्ता था। 'हाली' की मृत्यु से कुछ महीने पहले १४ जून १६१४ ई० को सारे खानदान के अरमानों की छाँव में इस बच्चे ने जन्म लिया और इसका नाम दादा के नाम पर अब्बास रक्खा गया। ख़ानदान में लड़कों की कमी थी और अपने ननिहाल में तो यह एकलौता ही लड़का था, इसलिए प्रकट है कि इसका पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से हुआ। औरतें बड़े चाव-चोंचले करतीं और पुरुष बेहद लाड़ प्यार! हाँ ख्वाजा ग़ुलामुस्सिब्तैन चरित्र के ऊँचे स्तर में विश्वास रखने वाले, सिद्धान्तवादी और किसी हद तक कठोर प्रकृति के आदमी थे। उनका जीवन, इस्लामी शिक्षा और नैतिक ऊँचाइयों का एक नमूना था जिसमें सहृदयता और सेवा की लगन ने बड़ा आकर्षण पैदा कर दिया था। अपने धर्म से उन्हें अत्यधिक प्रेम था और उनकी आकांक्षा और चेष्टा थी कि उनके कुल के सब बच्चे इस्लाम के सच्चे प्रेमी और

उसकी यथार्थ आत्मा से परिचित हों। वे परिवार के ही नहीं नगर भर के लोगों से बड़ा प्रेम करते थे और उनकी हर प्रकार की सहायता के लिए तैयार रहते थे किन्तु दिखावटी प्रेम का प्रदर्शन पसन्द नहीं करते थे। परिवार के लड़कों के साथ उनका व्यवहार ज़रा कठोर रहता था, किन्तु लड़कियों में बड़ी नर्मी और प्रेम से पेश आते थे। नैतिक दृष्टि से वे तनिक-सी भूल को भी सहन नहीं कर सकते थे और नौजवानों की स्वच्छन्दता और उद्दण्डता भी उन्हें पसन्द नहीं थी। अपने एकलौते बेटे को वे बहुत चाहते थे, इसलिए उसमें उन सब विचारों और गुणों का प्रतिबिम्ब देखने के इच्छुक थे जो स्वयं उनमें विद्यमान थे। अब्बास की माँ अपने दादा की तरह कम बोलनेवाली भी थीं और दर्दमन्द दिल भी रखती थीं। उनके मन में अपने सभी बच्चों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था, लेकिन बेटे पर तो वे प्राण निछावर किये रखती थीं। सारांश यह कि लाड़-प्यार, ममता और प्रेम, लेकिन साथ-साथ सिद्धांत वादिता और कठोरता के वातावरण में पलकर अब्बास बढ़ा। उसके स्वभाव में बचपन की इसी दोरंगी का बिम्ब और माता-पिता दोनों के गुणों की छाप मिलती है। वह अपने बाप की तरह दृढ़ स्वभाव, स्वाभिमान और अपने उद्देश्य के लिए जान तक की परवाह न करने वाले गुणों का स्वामी है और माँ का कोमल और दर्द भरा दिल और गहरा भावुक प्रेम भी उसके अन्तर में अनायास हिलोरें लेता है। जिसे वह हमेशा छिपाने का प्रयास करता रहता है।

अब्बास की प्रारम्भिक शिक्षा उसके नाना के स्थापित किये हुए 'हाली मुस्लिम हाई स्कूल' में हुई। आरम्भ से ही स्कूल में उसकी प्रतिभा का परिचय मिल गया था, किन्तु जैसे-जैसे वह बड़ा होता गया, बुज़ुर्गों और शिक्षकों को यह अन्दाज़ा होने लगा कि वह आम बच्चों से

भिन्न है। न तो वह परम्परागत 'शरीफ़' बच्चों की भाँति आज्ञाकारी और सुशील है और न आम बच्चों की तरह चालबाज़, झूठा और बहाने बाज़ ! वह बुजुर्गों का कहना सर झुकाकर नहीं मानता, लेकिन साथ ही चेतावनी या दंड से बचने के लिए झूठे बहाने नहीं बनाता है। सज़ा को संयम और स्वाभिमान के साथ सहता है, किन्तु उस समय उसकी आँखों में विद्रोह के भाव साफ़ झलक उठते हैं।

उस स्कूल में उस समय सच्चे तालीमी ढंग के अनुसार अधिक ज़ोर लिखने-पढ़ने पर ही दिया जाता था। फिर भी जब कभी कोई समारोह होता तो अब्बास उसमें खुलकर हिस्सा लेता था। उसके वंश में विद्या और साहित्य का वातावरण पहले से मौजूद था, जिसके कारण बच्चों को ऐसे काम करने का शौक़ पैदा होता था। अतएव बच्चों की लायब्रेरी, साहित्यिक संस्था की स्थापना और ड्रामा सोसायटी उनके कारनामें थे, जिनमें उनके बड़े उनके सहयोगी और सलाहकार होते थे। साहित्यिक गोष्ठी में सारे परिवार के बच्चे एकत्रित हो लेख और कहानियाँ पढ़ते, भाषण देते और 'इकबाल' व 'ग़ालिब' की चीज़ें सुनाया करते थे। उस गोष्ठी का सबसे जोशीला कार्यकर्ता अब्बास था। उन गोष्ठियों में जो सबसे कम उम्र, सबसे नाटा और सबसे अधिक लड़ने और चीख़ने वाला वक्ता दिखायी दे, समझ जाइए कि अब्बास के सिवा और कोई नहीं। नाटकों में अब्बास और उसके रिश्ते के दूसरे भाइयों को बहुत दिलचस्पी थी। लड़कियाँ बुज़ुर्गों के आदेशानुसार उससे दूर ही रहती थीं। यह सोसायटी अनेक छोटे-छोटे नाटक खेला करती थी, जिसमें कभी अँग्रेज़ी से अनुदित नाटक होते और अधिकतर आग़ा हश्र काश्मीरी के नाटकों का संक्षिप्त संस्करण खेला जाता। मुझे याद है कि इस तरह के किसी नाटक में अब्बास एक वीर मुजाहिद बना था, जिसने एक ज़ालिम ईसाई बादशाह की क्रूरता और अत्याचार

के सामने सर झुकाना मंज़ूर न किया और पहले अपनी बहन की जान न्योछावर की और फिर स्वयं सत्य का नारा लगाता हुआ फाँसी पर चढ़ गया।

सन् १६२६ ई० में अब्बास पानीपत से मिडिल पास करके अलीगढ़ यूनिवर्सिटी-स्कूल में आकर भरती हो गया और दो वर्ष बाद ऊँचे नम्बरों से मैट्रिक में पास होकर कॉलेज में आगया। यह छोटा-सा दुबला-पतला चौदह वर्ष का लड़का जब कॉलेज में दाख़िल हुआ तो सीनियर लड़कों को एक अच्छा शग़ल हाथ आ गया और वे उसे सताने और छेड़ने पर तुल गये। अब्बास का प्यार का नाम 'बाछू' था। आज उसे अपने इस नाम से जितना प्यार है, उस समय वह उतना ही चिढ़ता था। किसी तरह यह नाम कॉलेज में मशहूर हो गया। लड़के उसे 'बाछू' 'बाछू' कहकर छेड़ते और वह रोता-बिसूरता घर आकर अपनी चची से शिकायत करता जो उसे छाती से लगाकर समझातीं और तसल्ली-दिलासा देती थी। लेकिन वह बहुत जल्द इस मंज़िल से निकल आया। उसकी प्रतिभा, बोलने और लिखने की योग्यता, शीघ्र ही लोगों पर प्रकट हो गयी और दो वर्ष के अन्दर-अन्दर उसका सिक्का बैठ गया। अब किसी की हिम्मत न थी कि उसके अजीब नाम, छोटे क़द या कम वयस का मज़ाक उड़ाये। उसके गिर्द उसके से विचार और तबीयत रखने वाले जोशीले और योग्य राष्ट्रवादी विद्यार्थियों का एक गुट क़ायम हो गया जो उस समय कॉलेज का सबसे महत्वपूर्ण गुट समझा जाता था। अब्बास के पिता और नाना पक्के मुस्लिम लीगी थे, किंतु अब्बास राजनीतिक विचारों में उनसे तनिक भी प्रभावित न हुआ, बल्कि अपने बड़े भाई ख़्वाजा ग़ुलामुस्सैयदैन और उनके कुछ राष्ट्रवादी दोस्तों के विचारों से प्रभावित हुआ और पन्द्रह-सोलह वर्ष की उम्र से ही वह राष्ट्रवादी युवकों में

गिना जाने लगा। उम्र के साथ-साथ उसकी निडरता और जोश बढ़ता गया। वह बेधड़क भाषण देता, लेख लिखता और आपस की बात-चीत में तात्कालिक सरकार की बड़ी कड़ी आलोचनाएँ करता। नौजवानी के जोश ने कभी उसे यह न सोचने दिया कि एक तरुण दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्य से टक्कर लेगा तो उसका क्या परिणाम निकलेगा। अतएव विद्यार्थी जीवन में ही उस पर ख़ुफ़िया पुलिस की निगरानी रहने लगी और वह जहाँ जाता, ख़ुफ़िया पुलिस का एक आदमी उसके साथ लगा रहता था। अब्बास को इसकी तनिक भी चिन्ता न थी। हाँ, उसके नाना और पिता को इसकी बड़ी फ़िक्र थी। उनको इसका खेद भी था कि अब्बास राजनीतिक क्षेत्र में विपक्षी दल से सम्बन्ध रखता है और यह चिन्ता भी थी कि इस प्रतिभाशाली और योग्य नवयुवक का भविष्य क्या होगा. जिससे उन्होंने बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रक्खी थीं। लेकिन उसके पिता बड़े सिद्धान्तवादी होने के बावजूद ज़बरदस्ती करने के क़ायल न थे और समझाने-बुझाने के सिवा उन्होंने उसे और किसी तरह विवश करने का प्रयास नहीं किया।

सन् १९३३ ई० में अब्बास ने अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से फ़र्स्ट डिवीज़न में बी० ए० पास कर लिया। वह उस समय पूरे १९ वर्ष का भी नहीं था, पर सोच यह रहा था कि किसी समाचार पत्र में नौकरी करे। लेकिन उसके बुज़ुर्ग इस अल्पावस्था में उसके नौकरी करने के ख़िलाफ़ थे। यों भी वे यही सोचते थे कि अब्बास अभी 'बच्चा' है और इस उम्र का फ़ैसला टिकाऊ नहीं होता, चन्द साल और पढ़ ले तो शायद अपना भला-बुरा सोचने की बुद्धि पा जाय। लोगों के समझाने-बुझाने से अब्बास एल-एल० बी० में दाख़िल हो गया, परन्तु उसने क्षण भर को भी यह नहीं सोचा कि वह वकालत करेगा। उस समय यूनिवर्सिटी की बड़ी छुट्टियों में वह दिल्ली में जाकर रहता था, जहाँ उसके

पिता की नौकरी थी, और भिन्न-भिन्न समाचार पत्रों में सीखने के लिए काम करता। आरम्भ से ही पत्रकारिता की ओर उसका झुकाव रहा था और इसी पेशे को वह भविष्य में अपनाना चाहता था। बहुत छोटी उम्र से ही उसने पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने शुरू कर दिये थे, जिनमें से अधिकांश वह फ़र्ज़ी नामों से छपवाया करता था, शायद इस लिए कि उसे डर था कि उसकी उम्र देखते हुए सम्पादक गण उसे ऐसी महत्वपूर्ण समस्याओं पर लिखने के योग्य न समझें, जिनपर वह क़लम उठाया करता था।

अब्बास ने १९३५ में वकालत की परीक्षा भी पास कर ली, लेकिन उसकी राय न बदली। उसके पिता उसकी पत्रकारिता के विरोधी थे। उनका ख़याल था कि इस काम में सच्चाई, बहादुरी और निडरता से सच्ची बात कहने का नतीजा, प्रायः क़ैद और जुर्माने के सिवा और कुछ नहीं होता, और वे यह जानते थे कि अब्बास निडर और सच्चा है और यह उनकी हार्दिक इच्छा थी वह हमेशा ऐसा रहे, पर बाप की मुहब्बत उन्हें मजबूर करती थी कि वह उसे किसी संकटपूर्ण राह पर न जाने दें। उसकी माँ अपनी ममता से विवश, उसे अपने से हज़ार मील दूर बम्बई भेजने पर किसी तरह तैयार न थीं और वैसे भी वे उसके भावी जीवन के सम्बन्ध में जो स्वप्न देख रही थीं, वे उसके वर्तमान निर्णय से पूरे होते न दीखते थे। लेकिन अब्बास की ज़िद और ख़ुशी के सामने बाप की आकांक्षा और माँ की ममता को हार माननी पड़ी और अब्बास ने बम्बई जाकर स्वर्गीय सैयद अब्दुल्ला बरेलवी के साथ 'बाम्बे क्रानिकल' में 'सब एडीटर' की हैसियत से काम करना शुरू कर दिया। अब्बास के 'उज्ज्वल' भविष्य से (जिसका अर्थ उस समय ऊँची सरकारी नौकरी और बहुत से पैसे कमाने की क्षमता समझा जाता था।) लोग निराश हो गये और कुछ लोग जो उससे सम्बन्ध

जोड़ने के इच्छुक थे, हतोत्साह होकर पीछे हट गये। किन्तु अब्बास को एक क्षण के लिए भी इसका खेद न हुआ। अब्बास ने अपनी जीवन-संगिनी की जो कल्पना की थी, वह एक ऐसी नारी की थी जो उसी की भाँति राष्ट्रवादी, परिश्रमी और उसके कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाली हो। जिसे समय की कठोरता और कठिनाइयाँ हरा न सकें।

'बाम्बे क्रानिकल' में अब्बास ने लगभग नौ वर्ष तक काम किया। यही समय था जब उसकी पत्रकारिता और साहित्यिक योग्यताओं को उभरने और फूलने-फलने का मौक़ा मिला। उस ज़माने में उसने बहुत से लेख और कहानियाँ लिखीं और वह लोक प्रिय कहानीकार और जन प्रिय पत्रकार बन गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है वह पक्का राष्ट्रवादी और स्वाधीनता का सर गम समर्थक था। उसकी रचनाओं में पूर्ण रूप से यह रंग झलकता था। उसकी अख़बारी टिप्पणियाँ भी इसी ढंग की होती थीं। विदेशी सरकार उससे ख़ार खाती थी। वह उसे जेल में डालने से भी न चूकती। स्वयं अब्बास को न केवल क़ैद का भय नहीं था, बल्कि बड़ी इच्छा थी कि वह देश के लिए यह क़ुरबानी दे सके, किन्तु अपने सिद्धान्तवादी बाप के प्रेम और माँ की ममता ने उसे जाने या अनजाने इतना सावधान रखा कि वह इस मंज़िल से बचा रहा।

अब्बास की सबसे पहली रचना पुस्तक रूप में 'मुहम्मद अली' सन् १६३६ में प्रकाशित हुई। यह मौलाना मुहम्मद अली की संक्षिप्त जीवनी थी। मुहम्मद अली अब्बास के युवावस्था के हीरो थे और उसने उस छोटी-सी पुस्तक में उनके जिन गुणों का पूरे जोश और श्रद्धा से वर्णन किया है, वे वही हैं, जिनकी छाप किसी-न-किसी अंश में स्वयं उसके चरित्र पर पड़ी है। उसका पहला उर्दू कहानी संग्रह 'एक लड़की' था जिसकी एक कहानी में पर्दे का कड़ा विरोध किया गया

था। कट्टर पंथी समाज में उसका बड़ा विरोध हुआ। स्वयं उसके बाप को यह कहानी पढ़कर बड़ा दुख हुआ, किन्तु अब्बास विवश था। जिस बात को वह सच समझे, उसे कहने से कभी रुक नहीं सकता। उसके पश्चात् अब तक अब्बास के अनेक कहानी संग्रह (ज़ाफ़रान के फूल, मैं कौन हूँ, अँधेरा उजाला, 'कहते हैं जिसको इश्क़') और कई नाटक (ज़ुबैदा, यह अमृत है, चौदह गोलियाँ) यात्रा विवरण (मुसाफ़िर की डायरी) उर्दू में प्रकाशित हो चुके हैं। लेकिन वह उर्दू ही का नहीं अंग्रेज़ी और हिन्दी का भी लेखक है और बड़ी प्रवाहपूर्ण भाषा लिखता है। अंग्रेज़ी और हिन्दी में उसकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित होकर लोकप्रिय हो चुकी हैं। हिन्दी में 'अवध की शाम' 'चिराग़ तले' और 'मेरा बेटा मेरा दुश्मन' बड़ी लोकप्रिय हुई हैं। 'अवध की शाम' का तो दूसरा संस्करण अभी छपा है। इसके अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओं में उसकी अनेक रचनाओं के अनुवाद हुए हैं। विदेशी भाषाओं में भी रूसी, चेक और जर्मन भाषा में उसकी रचनाएँ पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई हैं। कुछ वर्ष हुए उसने एक उपन्यास 'इन्क़लाब' के नाम से लिखना आरम्भ किया था। अब वह पूर्ण हो चुका है, पर अभी तक उर्दू या अंग्रेज़ी में नहीं छप सका। हाँ, जर्मन भाषा में अनूदित होकर प्रकाशित होनेवाला है और रूसी भाषा में भी छप रहा है। अब्बास बहुत सी पुस्तकों का लेखक है, लेकिन उनमें किसी ऐसी कृति का अभाव है जिसे उसने काफ़ी अर्से तक जमकर लिखा हो। कहानी, नाटक और लेखों के संग्रह या भ्रमण के संस्मरण ही उसके छपे हैं। उसका उपन्यास अभी तक उर्दू या हिन्दी पाठकों तक नहीं पहुँचा। और अब तो फ़िल्मी कामों ने उसका समय इस तरह घेर लिया है कि भविष्य के लिए यह आशा नहीं होती कि वह बैठकर इत्मीनान से लिखने-पढ़ने का काम कर सकेगा।

अब्बास को बचपन से सफ़र का शौक़ था। पानीपत से बाहर कहीं जाना होता तो वह ख़ुशी से उतावला हो जाता। दिल्ली, अलीगढ़, बम्बई और भारत के दूसरे नगर उसके भ्रमण की प्यास को न बुझा सके। सन् १६३४ ई० में अलीगढ़ के लड़कों की एक टोली अफ़ग़ानिस्तान गयी। अब्बास ने बहुत चाहा कि उसे भी पासपोर्ट मिल जाये, पर विदेशी सरकार ने ऐसे 'बाग़ी' नौजवान को बाहर न जाने दिया। अब्बास को बड़ी निराशा हुई, पर उसने हिम्मत न हारी। बम्बई आकर भी उसने यह कोशिश जारी रक्खी कि उसे बाहर जाने के लिए पासपोर्ट मिल जाये। आख़िर सन् ३८ ई० में उसकी यह आकांक्षा पूरी हुई। बम्बई की नयी कांग्रेसी सरकार की कृपा से उसे संसार के भ्रमण की आज्ञा मिल गयी। रुपये का सवाल भी ख़ासा टेढ़ा था। न अब्बास के पास कुछ था, न उसके बाप के पास इतनी पूँजी थी कि आसानी से उस ख़र्च को बरदाश्त कर सकते। फिर भी उसने कुछ सगे-सम्बन्धियों से क़र्ज़ लिया, कुछ बाप ने मदद की, कुछ स्वयं जमा किया और चन्द हज़ार रुपये इकट्ठा करके यात्रा पर चल पड़ा। वह अत्याधिक ख़र्चीला होने के साथ-साथ ग़ज़ब का मेहनती है और हर तरह की तंगी और सख्ती सह सकता है। इसीलिए वह इतने थोड़े रुपये से सारी दुनिया को देखने का सकल्प लेकर निकला और पाँच महीने में क़रीब-क़रीब सारी दुनिया का एक चक्कर लगाकर और सत्रह देशों में रहकर, जिनमें चीन, जापान, अमेरिका, कनाडा, योरप के अनेक देश और एशिया के मुस्लिम देश, सभी शामिल थे, वापस आया। उसने अपनी इस यात्रा के विवरण और अनुभव उर्दू और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में लिखे। 'मुसाफ़िर की डायरी' पढ़ने से मुश्किल से यह अनुमान हो सकता है कि यह मुसाफ़िर, जिसकी देखने और सोचने की शक्ति बूढ़ों पर भारी है, उस

समय केवल चौबीस वर्ष का युवक था।

बम्बई जैसे कोलाहल पूर्ण वातावरण में अब्बास के-से बेचैन और उत्साही युवक का धैर्य और खामोशी के साथ किसी अख़बार के काम को किये जाना असम्भव था। यहाँ उसकी दिलचस्पी की सभी चीजें थीं। साहित्यिक संस्थाएँ, ड्रामा सोसायटियाँ, आर्ट की सेवा करने वाली संस्थाएँ और फ़िल्मी दुनिया। और अब्बास के दिमाग़ में उन सब के सुधार और उन्नति का जुनून था। और वह इस मैदान में कूद पड़ा। बम्बई में 'प्युपुल्ज़ थियेटर' को जो लोग चलाते थे उनमें अब्बास प्रमुख था। यह थियेटर 'इपटा' (IPTA) के नाम से बड़ा प्रसिद्ध हुआ और देश के कुछ दूसरे नगरों में भी इसकी शाखाएँ क़ायम हुईं। कला और साहित्य की सेवा और थियेटर व ड्रामा के स्तर को ऊँचा करना इसका उद्देश्य था।

फ़िल्मों से भी उसकी दिलचस्पी बढ़ी। सब से पहले सन् १९४१ ई० में उसने एक कहानी 'नया संसार' लिखी। उस समय बम्बई में अच्छी खासी फ़िल्में बना करती थीं और कलाकारों में से भी कुछ को सचमुच अपनी कला से लगाव और उसके प्रसार की लगन थी। 'नया संसार' में काम करने के लिए ख़ुरशीद जहाँ को आमंत्रित किया गया, जिसने हाल ही में रेणुका देवी के नाम से ख्याति प्राप्त की थी। 'नया संसार' रेणुका देवी का सबसे सफल और शायद आख़िरी फ़िल्म था। वह फ़िल्म और उसकी कहानी बड़ी लोकप्रिय हुई और अब्बास अच्छा फ़िल्मी कहानी लेखक समझा जाने लगा। मेरा विचार है कि अब्बास के साहित्यिक जीवन को इसी फ़िल्म के कारण घुन लग गया। इसके बाद से उसका ध्यान फ़िल्मी कहानियों की ओर अधिक लग गया। वह पत्र-कारिता अब भी करता था, दूसरे अख़बारों और पत्रिकाओं में भी लिखता रहता था, कोई-न-कोई उपन्यास भी लिखता रहता था, बहुत

सी कहानियों के कथानक दिमाग़ में और नाम कापी पर अब भी मौजूद रहते थे, किन्तु उसका अधिक ध्यान अब फ़िल्मी कहानी में लगा रहता था और रोज़ी कमाने का साधन भी अब यही था। जीवन दिन-पर-दिन महँगा होता जा रहा था, अब्बास की ज़िम्मेदारियाँ और आवश्यकताएँ बढ़ रही थीं। अब समाचार पत्र का मामूली वेतन उसका भार न उठा सकता था। लेकिन आर्थिक आवश्यकता से कहीं अधिक उसे यह चिन्ता थी कि अच्छी कहानियाँ लिखी जायँ और ऊँचे स्तर की फ़िल्में बनें। उसका विचार था कि डायरेक्टर प्रोड्यूसर उसकी कहानियों को जैसा चाहिए वैसा प्रस्तुत नहीं करते और इस विचार ने उसे इस पर उकसाया कि एक फ़िल्म स्वयं बनायी जाय। रुपया लगाने वाले कुछ दोस्त भी मिल गये। कला के प्रेमी कुछ कलाकार भी साथ देने को तैयार हो गये। निश्चय हुआ कि अहमद अब्बास फ़िल्म की कहानी लिखेंगे और स्वयं निर्देशन करेंगे और जो लाभ होगा वह 'इपटा' के हिस्से में आयेगा। सन् १९४५ ई० में उसने 'धरती के लाल' का निर्माण आरम्भ किया जो सन् ४६ में समाप्त हुआ। उस फ़िल्म को कला-प्रेमियों ने बहुत पसन्द किया, बड़े-बड़े राजनैतिक नेताओं ने उसकी प्रशंसा की, परन्तु बाज़ार में वह फ़िल्म जरा भी न चली और लाभ का क्या ज़िक्र, काम करने वालों को पेट के लाले पड़ गये। सन् ४६ के आख़िर में एक और कम्पनी ने उससे एक फ़िल्म बनाने की फ़रमायश की। 'आज और कल' के नाम से लाहौर में अब्बास ने उस फ़िल्म को डायरेक्ट किया जो सन् ४७ के आरम्भ में बनकर तैयार हुई। लेकिन अभी फ़िल्म पूर्ण रूप से बनी भी नहीं थी कि अब्बास को बम्बई वापस जाना पड़ा। यह वह संकट पूर्ण समय था जब देश में साम्प्रदायिक दंगों की आग सुलग रही थी, विशेषकर पंजाब में ये दंगे बड़ा भीषण रूप धारण कर चुके थे। एक तरफ़ स्वतन्त्रता का शुभागमन हो रहा था तो दूसरी

और इंसानों के ख़ून की होली खेली जा रही थी, यहाँ तक कि अगस्त सन् ४७ में आज़ादी मिली, देश का विभाजन हुआ और बहुत से भागों में पशुता के वे प्रदर्शन हुए कि मानवता काँप-काँप उठी।

उस संकट पूर्ण समय में अब्बास सब कुछ भूल गया। उसका दिल ख़ून के आँसू रो रहा था और दिन का चैन और रात की नींद हराम हो गयी थी। वह और सब काम छोड़-छाड़कर उस विपत्ति जनक स्थिति को सुधारने की पूरी कोशिश अपनी लेखनी द्वारा कर रहा था। अब्बास का घर बम्बई के एक ऐसे इलाक़े में था जिसके चारों ओर संघी और महा सभाई लोग रहते थे, जिनमें से अधिकांश मुसलमानों के जानी दुश्मन थे और अब्बास सारे बम्बई में जाना-पहचाना था। उसके सब दोस्तों ने जिनमें मुसलमानों से अधिक हिन्दू और सिक्ख थे, उसे समझाया कि वह उस जगह को छोड़कर कहीं और चला जाये, यहाँ उसकी जान को ख़तरा है। पर अब्बास इस पर राज़ी नहीं हुआ। उसके शब्द-कोश में जान के डर से भागने का शब्द ऐसी कायरता है, जिसका कलंक वह किसी प्रकार पसन्द नहीं कर सकता था। और वह अकेला नहीं था। उसने वह सारा समय वहीं बिताया, खुल्लम खुल्ला बिताया और अपने कुटुम्बियों के साथ रहा जो पानीपत से किसी तरह जान और इज़्ज़त बचाकर बम्बई पहुँच गये थे। संकट आते रहे और टलते रहे और ख़ुदा की मेहरबानी से अब्बास का या उसके किसी सम्बन्धी या साथी का बाल तक बाँका न हुआ।

अब्बास ने उस समय कई नाटक लिखे, जिनका उद्देश्य अमन-शांति की फ़िज़ा पैदा करना और प्रेम तथा भाई चारे की भावना का प्रसार था। ये नाटक बम्बई में जगह-जगह स्टेज किये गये और उन्हों ने बड़ा गहरा असर डाला। उसने कुछेक कहानियाँ भी दंगों के विषय पर लिखीं जो भारत और पाकिस्तान के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित

हुई। उनमें एक कहानी 'सरदार जी' थी जिसका कथानक केवल इतना था कि दिल्ली में एक मुसलमान को एक सिक्ख बूढ़ा अपनी जान पर खेल कर बचाता है। उस कहानी में हास्य और व्यंग्य का काफ़ी पुट था। यह घटना उसके एक निकट सम्बंधी के साथ घटी थी जिसे अब्बास ने कहानी बनाकर प्रस्तुत किया था। उसका उद्देश्य यह दिखाना था कि हर धर्म और जाति में भले, दयालु और सज्जन पुरुष होते हैं, जो अपनी जान पर खेल कर दूसरों की सहायता कर सकते हैं। अब्बास स्वयं मुसलमान है, इसलिए स्वभावतः उसने मुसलमानों की ज़रा कड़ी आलोचना की थी। लेकिन मज़े की बात यह हुई कि यह कहानी एक अच्छा ख़ासा हंगामा बन गयी। हिन्दी की पत्रिका 'माया' ने उसे प्रकाशित किया तो सिक्खों के विरोध पर उस पत्रिका और लेखक दोनों पर यू॰ पी॰ सरकार ने मामला चला दिया, इस अभियोग में कि इस कहानी का उद्देश्य सिक्खों को अपमानित करना और आपस में घृणा और द्वेष की भावना पैदा करना है। दूसरी ओर पाकिस्तान की एक पत्रिका में छपा तो वहाँ लोगों ने उसे मुसलमानों के विरुद्ध और सिक्खों की प्रशंशा करने वाला कहा। उस समय दोनों ओर के कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने कुछ बेख़बरी और कुछ विद्वेष के कारण ऐसी-ऐसी बेपर की उड़ायीं और ऐसी ऐसी बातें अब्बास के बारे में लिखीं जिनका न सर था, न पैर। कई महीने तक यह मामला चलता रहा और इस सिलसिले में अनेक हिन्दी और उर्दू पत्र-पत्रिकाओं ने उसके पक्ष और विपक्ष में लेख लिखे। अन्त में यह मुकदमा सरकार ने उठा लिया। लेकिन इस बीच उस कहानी का इतना प्रचार हुआ और अब्बास को इतनी ख्याति मिली जो और किसी तरह सम्भव न थी।

दंगों पर उर्दू में प्रत्येक मानवता प्रेमी लेखक और कवि ने कुछ-न-कुछ अपने रंग में लिखा है और मानवता को मिटने से बचाने और

शांति तथा भाईचारे का वातावरण पैदा करने का प्रयास किया है। रामानन्द 'सागर' ने इसी विषय पर एक उपन्यास 'और इंसान मर गया' के नाम से लिखा जिसकी भूमिका (उर्दू संस्करण की) अब्बास से लिखवायी। अब्बास दंगों के दौरान में इसी समस्या पर बराबर विचार करता रहा था कि इस ख़ून-ख़राबी और पाशविकता का जिस पर दोनों ओर के लोग उतर आये, आख़िर क्या कारण है ? वह यह तो मानता था कि विदेशी सरकार हमें लड़वा कर अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहती थी, परन्तु यह नहीं मानता था कि इन दंगों में मार काट करने वाले स्वयं मासूम हैं। वह सोचता था कि जब तक हमारी जाति में स्वयं ये कीटाणु न हों, कोई बाहरी चीज़ ऐसा भयंकर प्रभाव नहीं डाल सकती। उस उपन्यास की भूमिका में उसने अपने इसी विचार को प्रकट किया और लिखा कि लोग स्वयं अपने अपराधों से यह कहकर नहीं बच सकते कि किसी दूसरी शक्ति ने हमें यह करने पर विवश किया था। बात देखने में साधारण सी थी और आम तौर पर लोग उससे सहमत लगते थे, किन्तु उस समय इस भूमिका पर प्रगतिशील लेखकों की ओर से उसके ख़िलाफ़ एक तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। यह वह समय था जब भारतीय कम्यूनिस्ट और उनकी समर्थक पार्टियाँ उग्रता की ओर झुक रही थीं। प्रगतिशील आन्दोलन के बहुत से ज़िम्मेदार नेता जेलों में बन्द थे और आन्दोलन कुछ नये, जोशीले और उग्र नवयुवकों के हाथ में आ गया था। हर व्यक्ति पर, जो उनके सिद्धान्त से ज़रा भी इधर या उधर हटता था, प्रतिक्रियावादी और बुर्जुआ होने का आरोप लगा कर कड़ी पूछ-ताछ की जाती थी। अब्बास आरम्भ से ही प्रगतिशील आन्दोलन के साथ रहा था। वह साम्यवादी न था, किन्तु उनका दोस्त, हमदर्द और शुभचिन्तक हमेशा रहा। वह उनकी टीका करता था, किन्तु दोस्ताना ढंग से। और उसके सब साथी उसकी सच्चाई और साफ़गोई को जानते

और इसीलिए उसकी क़द्र करते थे। लेकिन उस समय धारे का बहाव ही और था। अब्बास की बड़ी कठोर आलोचनाएँ की गयीं ज़िम्मेदार और समझदार लोगों ने जो आपत्तियां कीं वे किसी हद तक उचित भी थीं, पर उस समय तो हर ऐरा-ग़ैरा पूरे जोश से अब्बास का विरोध करके अपने 'प्रगतिशील' होने का प्रमाण देने पर तुल गया था। इसलिए कोई सम्भव और असम्भव आरोप ऐसा नहीं था जो उस पर न लगाया गया हो उसको अंग्रेज़ों का पिट्ठू प्रतिक्रियावादी, कांग्रेस का एजेंट, जनता का शत्रु सभी कुछ तो कहा गया। उसके और उसके परिवार वालों के चरित्र तक पर हमला करने और गन्दगी उछालने से लोग न चूके। अब्बास शुरू में उन साहित्यिक सभाओं में वाद-विवाद करके और अपनी ऊँची आवाज़ से दूसरों की आवाज़ों को दबाने और समझाने की कोशिश करता रहा। उसे आश्चर्य था कि उसने कौन सी ऐसी बात कह दी है कि—

> एतराज़ों का ज़माने के है 'हाली' पे निचोड़
> शायद अब सारी ख़ुदाई में है क्या एक ही शख़्स ?

लेकिन उसने यह नहीं माना कि वह ग़लती पर है। अब्बास की हिमायत में उस समय अगर कोई मुँह खोलने का साहस करता तो तुरन्त उस पर भी ये सारे आरोप लगा दिये जाते थे। लेकिन धीरे धीरे तूफ़ान धीमा पड़ा, विरोध, भ्रम और वैमनस्य के बादल छँटने लगे। पार्टी-की नीति बदलने के साथ-साथ अब्बास की सच्चाई और नेकनियती फिर स्वीकार कर ली गयी और अब फिर आम तौर पर उसे जनता का मित्र और प्रगतिशील समझा जाने लगा है।

अब्बास के मन में अर्से से सरल हिन्दी की एक पत्रिका निकालने की इच्छा थी। वह चाहता था कि मधुर, सरल और रसीली भाषा में एक अच्छी पत्रिका निकाली जाये। आख़िर उसने 'सरगम' के नाम से यह

पत्रिका निकाली जिसमें साहित्य, कविता, कला फ़िल्म और नाटक सब का सम्मिश्रण था। यह पत्रिका विशेष रूप से दक्षिण भारत में बहुत लोकप्रिय हुई और इसके प्रशंसकों की काफी बड़ी संख्या हो गयी। अब्बास के लेख, कहानियाँ और सवाल जवाब, कृष्ण चन्द्र का उपन्यास और कुछ दूसरे प्रसिद्ध लेखकों की रचनाएँ उसमें प्रकाशित होती थीं। आर्थिक दृष्टि से वही हुआ जिसकी आशंका थी। एक तो वैसे भी उर्दू हिन्दी की पत्रिकाएँ अपना भार स्वयं कहाँ उठा सकती हैं! और फिर अब्बास की कारबार सम्बन्धी अज्ञानता और प्रत्येक व्यक्ति पर भरोसा करने की आदत ने बहुत जल्द उसे बैठा दिया। वह जो कुछ कमाता, 'सरगम' में झोंकता रहा। लेकिन सारे प्रयास करने पर भी वह उसके भार को न उठा सका और अन्त में उसे 'सरगम' को बन्द करना पड़ा। जिन लोगों को पत्रकार के मनोविज्ञान का पता है, वे जानते हैं कि अपनी पत्रिका से सम्पादक को कैसा लगाव होता है। अब्बास ने 'सरगम' बन्द किया तो उसे ऐसा दुख हुआ जैसे किसी बाप को अपने होनहार को दफ़न करते समय होता है। लेकिन वह ग़म पालने का आदी नहीं, न हार मानता है। तुरन्त ही उसके दिमाग़ ने एक नयी योजना को जन्म दिया। उसने 'नया संसार' के नाम से अपनी एक फ़िल्म कम्पनी बना डाली। इससे पहले उसकी लिखित कहानी 'आवारा' बहुत लोक प्रिय हो चुकी थी। इस कम्पनी ने अब तक तीन फ़िल्में 'अनहोनी', 'राही' और 'मुन्ना' बनायी हैं। ये फ़िल्में एक दृष्टि से बहुत सफल हैं। इसलिए कि अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद समझदार और सुरूचिपूर्ण वर्ग ने इन्हें बहुत पसंद किया है। फिर भी ये फ़िल्में व्यवसायिक दृष्टि से अधिक सफल नहीं रहीं। कुछ इन फ़िल्मों का स्तर दूसरी आमपसन्द फ़िल्मों से भिन्न है और कुछ अब्बास की व्यवसायिक अज्ञानता इसका कारण है। आज

वह अपनी इतनी निजी फ़िल्में बनाने के बाद भी कंगाल है। लेकिन अब्बास को न इससे रंज है, न निराशा। वह अब भी कई फ़िल्में बनाने की धुन में लगा हुआ है।

सन् १९५१ ई० में नया चीन की वर्ष गाँठ में सम्मिलित होने के लिए चीनी सरकार के निमंत्रण पर एक शिष्ठ मंडल भारत से चीन गया। उसमें अब्बास को भी आमंत्रित किया गया था। लेकिन मज़े की बात यह है कि जिस प्रकार विदेशी सरकार अब्बास को दूसरे देशों में भेजने से डरती थी, अपनी राष्ट्रीय सरकार भी (जिस राष्ट्र की सेवा वह १५ वर्ष की उम्र से कर रहा है।) उसे संदिग्ध आदमी ही समझती है। उसे पासपोर्ट मिलने में बड़ी कठिनाई हुई और इतनी देर लगायी गयी कि शिष्ठ मंडल रवाना हो गया। फिर दो ही तीन दिन बाद चीनी सरकार के आग्रह और पं० नेहरू की आज्ञा से अब्बास को तुरन्त ही पासपोर्ट भी दिया गया और उसे विशेष आयोजन के साथ चीनी सीमा तक पहुँचा दिया गया जहाँ चीनी स्पेशल ट्रेन ने और चीनी हवाई जहाज़ ने जिसमें वह अकेला यात्री था, उसे ठीक वर्ष गाँठ के दिन पीकिंग पहुँचा दिया। अपनी आदत के अनुसार अब्बास ने नये चीन को बड़े ध्यान से देखा। बहुत से लोगों से मिला और वहाँ का सब हाल मालूम किया। चीनियों से दोस्ती की और अपने लिखने के लिए नया मसाला और नये मंसूबे लेकर भारत लौटा तो उसकी ज़बान चीन की तारीफ़ करते न थकती थी। इस यात्रा से उसने और जो कुछ भी हासिल किया हो, एक अच्छी पुस्तक की रचना तो हो गयी। उसका नाम 'माओ के अनुरूप' है। और उसमें चीन के उन जाँबाज़ों की सच्ची और प्रभावपूर्ण कहानियाँ हैं जिन्होंने अपने देश के लिए बलिदान दिये और प्राणों की बाज़ी लगायी। आजकल अब्बास फ़िल्म डेलीगेशन के लीडर की हैसियत से

रूस गया हुआ है और वहाँ रूस को देखने और साथ ही अपने देश की महानता और सचाई का सिक्का जमाने की कोशिशों में लगा है। [इन पंक्तियों के छपते समय वह रूसी और हिन्दुस्तानी पूँजी से एक ऐसी फ़िल्म बना रहा है, जिसमें रूस से भारत में आने वाले सब से पहले यात्री का जीवन चरित्र दिया गया है। इसमें रूसी और हिन्दुस्तानी अभिनेता साथ-साथ काम कर रहे हैं।]

इस लेख में मैंने अब्बास के व्यक्तित्व की एक झलक पाठकों के सामने रखने का प्रयास किया है। लेकिन उसकी प्रकृति और स्वभाव को पूर्णरूप से वही समझ सकता है जो उसके बहुत निकट रहा हो। उसके स्वभाव में बहुत सी परस्पर विरोधी चीज़ें इकट्ठा हो गयी हैं।

अब्बास को हम 'जीनियस' तो नहीं कह सकते, लेकिन वह अपूर्व मेधा और प्रतिभा का स्वामी है। और यह प्रतिभा उसके चेहरे से, आँखों से, क़लम से और बातों से टपकती है। साथ ही उसे अपनी प्रतिभा का अहसास है। यद्यपि वह इस पर अभिमान नहीं करता लेकिन एक हद तक इसी प्रतिभा के अहसास ने उसे अपने इरादे में इतना पक्का बना दिया है कि उसे हठ धर्म कहा जा सकता है। और इसी कारण वह समझता है कि जिस काम में वह हाथ डालेगा, उसे अवश्य पूरा कर लेगा। पिछली असफलताएँ उसे इस लिए निराश नहीं होने देतीं कि आर्थिक असफलता या हानि को वह हानि नहीं समझता और पारखी के संतोष और प्रशंसा भरी मुस्कान को वह अपनी हर कठिनाई और मुसीबत का मूल्य समझ लेता है। लेकिन वह केवल प्रतिभाशाली ही नहीं, हद दर्जे का मेहनती भी है। वह जिस काम को हाथ में लेता है, उसके लिए दिन-रात 'सर गाड़ी पाँव पहिया' करता है। अख़बार के लिए सम्पादकीय और 'Last Page' लिखना हो या किसी पत्रिका के

लिए कहानी, फ़िल्मी कथानक लिखना हो या फ़िल्म डायरेक्ट करना हो, वह इस तरह उस काम में लग जाता है कि फिर किसी बात का उसे होश नहीं रहता। दुनिया में क्या हो रहा है, परिवार का क्या हाल है, पत्नी किस परेशानी में है और दोस्तों पर क्या बीत रही है, वह सब से बेपरवाह अपने काम में इस ढंग से लीन रहता है मानो यदि यह न हुआ तो पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती-घूमती रुक जायेगी। फ़िल्म की शूटिंग के दिनों में विशेष रूप से उसकी दशा दयनीय होती है। कपड़े मैले हैं, डाढ़ी बढ़ी हुई है, आँखें लाल हैं, चेहरा उतरा हुआ है, चौबीस घंटे में दो-तीन घंटे की नींद नसीब नहीं। एक दो वक्त का खाना ढंग से नहीं खा सकता, मगर कोई परवाह नहीं, कोई फ़िक्र नहीं। हाँ उस समय न कोई टोके, न हमदर्दी न दिखाये, नहीं अब्बास का पारा एक सौ दस डिग्री पर पहुँच जायगा। इस लगातार मेहनत और अनियमित जीवन का प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर बुरा पड़ा है। उसका शरीर अच्छा है, पर स्वास्थ्य अक्सर ख़राब रहता है। डाक्टर उसके प्रत्येक रोग का इलाज आराम करना और नियमित रूप से सोना, खाना और काम करना बताते हैं, परन्तु अब्बास ने पचीस वर्ष से बेउसूली को उसूल बना रक्खा है। वह सब कुछ कर सकता है, पर इसकी पाबन्दी नहीं कर सकता कि समय पर खाये, सोये और समय पर काम करे।

अब्बास के लिए दूसरा असम्भव काम ख़र्च और आमदनी में संतुलन रखना है। जब वह डेढ़ सौ कमाता था तब भी क़र्ज़दार रहता था, जब हज़ारों कमाता था तब भी और जब बिलकुल कुछ नहीं होता तब भी। उसके ख़र्च में कमी नहीं आती। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि जब उसकी आय सीमित थी तब भी वह संतुष्ट था और कुछ ख़र्च (जैसे माँ को ख़र्च देना) ऐसे थे जिनको वह नियमित

रूप से पूरा करता था। लेकिन जैसे तैसे उसकी आमदनी बढ़ी, उसकी तंगदस्ती बढ़ती गयी। इसलिए कि न वह चादर देखकर पाँव फैलाने का क़ायल है और न यह जानता है कि कौन से ख़र्च अनिवार्य होते हैं और कौन ऐसे जिनको नज़रन्दाज़ किया जा सकता है। वह स्वय बेहद संयमी, परिश्रमी और एक हद तक फूहड़ है। उसे कभी ढंग के और अच्छे कपड़े पहिने देखिए तो समझ जाइए कि किसी दोस्त के होंगे। न वह अपने ऊपर ख़र्च करता है न बीवी बच्चों पर। इसलिए कि उसकी पत्नी पति से अधिक परिश्रमी और संयमी है। न उसे अच्छे खानों का शौक है न ऐश-आराम का। लेकिन इसके बावजूद उसके पास पैसा नहीं रहता। एक तो वह दूसरों की परेशानी और तकलीफ़ नहीं देख सकता, दूसरे चतुर और दुनियादार दोस्त बड़ी आसानी से उससे सैकड़ों रुपये ऐंठ सकते हैं। फिर जो काम जिस ज़माने में वह करता है, उसे आर्थिक दृष्टि से अक्सर घाटा होता है और उसकी आय का अधिकांश भाग उसमें झोंक दिया जाता है। उसे तोहफ़े लाने और देने का बेहद शौक़ है। जब वह निजी आवश्यकताओं पर बीस पच्चीस रुपये न ख़र्च कर रहा हो, उस समय भी वह कहीं जाये तो वह वहाँ से सैकड़ों के तोहफ़े ले आता है। फिर ये तोहफ़े ख़ास लोगों के लिए नहीं। चीज़ें रक्खी हैं, उसके मित्र परिचित मिलने-जुलने वाले आ रहे हैं, जिसको जो पसन्द आया, उठाकर ले गया। मियाँ अब्बास बहुत ख़ुश हैं कि उनकी लायी हुई चीज़ों की तारीफ़ हो रही है। किसी ने कह दिया कि यह क्या तरीक़ा है चीज़ें बरबाद करने का तो वह बिगड़ जायगा। वह फटे कपड़े और पुराना जूता पहिने फिर रहा हो (इसलिए कि इन कामों के लिए उसके पास पैसे बहुत कम निकलते हैं) पर कोई फ़रमायश कर दे तो झट सिनेमा दिखाने ले जायगा। बच्चों को आइसक्रीम खिलाने में ही पचीस तीस रुपये

ख़र्च कर देगा। बेधड़क क़र्ज़ लेता है, जिसके अदा करने की चिन्ता में दिन रात काम करता है और दिन का चैन और रात की नींद हराम कर लेता है। बेतहाशा क़र्ज़ देता है, जिसके वापस लेने का स्वयं उसे तो कभी ख़याल आता ही नहीं, यदि कोई दूसरा भी ध्यान दिलाये तो बिगड़ जाता है और लेने वाले को भी वापस करने का बहुत कम ध्यान आता है। उसके पास टैक्सी के किराये के पैसे न होंगे और वह कलकत्ता, चीन या रूस जाने का प्रोग्राम बना रहा होगा। बैंक में हज़ार पाँच सौ रुपये न हों, लेकिन लाखों की फ़िल्में बन रही होंगी। दो आने का ख़त भेजने में कंजूसी करेगा और पचास रुपये का उपहार बड़ी आसानी और ख़ुशी से भेंट कर देगा। वह रुपया कमाना जानता है, पर न ढग से ख़र्च करना जानता है न रखना। उसके पास अपना घर नहीं, अपनी कार नहीं, घर में बढ़िया साज़-सामान नहीं, अपने पास काफ़ी कपड़े नहीं, बीवी के पास ज़र-ज़ेवर नहीं। सिर्फ़ एक चीज़ है जिसके जमा करने का अब्बास को हद से ज़्यादा शौक़ है और वे हैं किताबें। कोई अच्छी किताब दुनिया के किसी कोने में छपे, किसी दाम की हो, अब्बास जब तक उसे मँगा न लेगा, उसे चैन न आयेगा। यद्यपि उसकी इन प्रिय पुस्तकों को भी उसके 'कृपालु मित्र' नहीं छोड़ते। इसलिए कि उसका उसूल है कि उसके घर की हर चीज़ दूसरों की भी है। "मुझे ताले कुंजी में चीज़ें रखने से नफ़रत है। जिसको ज़रूरत हो वह ले जाये।" और उसकी हज़ारों किताबें इसी तरह बरबाद हो चुकी हैं। लेकिन अब भी जो चीज़ उसके घर में नज़र आती है वह किताबें हैं। अब्बास को अपने और पत्नी के लिए घर की ज़रूरत नहीं। लेकिन इन किताबों के लिए उसे घर—ख़ासा बड़ा घर—लेना पड़ता है। इसलिए कि उसको तो हर कोई साथ रखने पर तैयार हो जाता है, लेकिन उन बीसियों आलमारियों और हज़ारों

किताबों और पत्र-पत्रिकाओं के ढेर की मेहमानदारी कौन करे ।

अब्बास मेधावी होते हुए भी ख़तरनाक हद तक सीधा है । दुनिया के छल-कपट से सर्वथा अनभिज्ञ । उसे बड़ी आसानी से लोग अपने जाल में फँसा लेते हैं । आदमी को पहिचानने का माद्दा उसमें बहुत कम है और लोगों की दिखावटी मुहब्बत, प्रेम और हमदर्दी से बड़ी जल्दी प्रभावित हो जाता है । फिर जब अन्त में धोखेबाज़ों के धोखे को जान भी ले तो मुरव्वत के कारण उससे निकलने की कोशिश नहीं करता । उस पर जब किसी ऐसे अवसरवादी 'दोस्त' या 'कृपालु' का हाल खुलता है तो मुद्दतों उसका ग़म करता है, लेकिन फिर उसे माफ़ भी कर देता है ।

अब्बास बड़ा भावुक, नर्म दिल और भावप्रवण है, किन्तु अपने को बहुत सख्त दिल और भावुकता पूर्ण प्रेम से बेगाना समझता है । प्रेम का प्रदर्शन करते समय वह विशेषकर बहुत घबराता है और उसे 'FUSS' कहता है और मज़ाक़ उड़ाता है । घर में उसकी ज़रा सी ख़ातिर या ख़याल कीजिए तो वह प्रसन्न होने की जगह उलटा झुंझलायेगा और उलझेगा कि "मुझे ये नख़रे नहीं भाते ।" लेकिन असल में वह प्रेम और प्रशंसा से बहुत प्रभावित होता है, बशर्तेकि उसका करने वाला उसके स्वभाव को पहिचान ले । उसके मन में बचपन से हीन-भाव छिपे हैं । और इसलिए चतुर और चालबाज़ दोस्तों के बनावटी प्रेम, प्रशंसकों की प्रशंसा और औरतों की भावुकता उसके दिल की गहराइयों में उच्च-भाव उभारती और उसे संतोष देती है। उसकी सरलता के कारण दूसरों ने बड़े बड़े फ़ायदे और अब्बास ने बड़े बड़े नुक्सान उठाये हैं । बदनामी, दुख और ग़म सहा है । अब्बास फ़रिश्ता नहीं इंसान है । उसमें बहुत सी ख़ामियाँ हैं । उससे भूल भी हो सकती है । लेकिन वह जहाँ दूसरों

की भूलों को आसानी से माफ़ कर सकता है, अपनी किसी भूल को माफ़ करना उसके लिए बड़ा कठिन है और उसका गहरा पश्चात्ताप और हार्दिक दुख उसके दोष को धो सकता है।

अब्बास वैसे देखने में घर और ख़ानदान के हालात से बेगाना, बेपरवाह और सख्त दिल इंसान नज़र आता है, लेकिन जिन लोगों ने उसे अपने बाप की अंतिम बीमारी में सेवा करते देखा है, उसे वर्षों अपनी माँ की तकलीफ़ में उनके साथ रातों को जागते और उनके दुख पर अपना दिल खून करते पाया है, अपने भाई की बीमारी में सारी सारी रात जाग कर और सारा काम काज छोड़ कर सेवा-शुश्रूषा में लीन पाया है, जिन्होंने उसे अपनी पत्नी की बीमारी में आठ-आठ दिन पलंग की पट्टी से लगे देखा है, वे जानते हैं कि इस 'सख्त दिल' अब्बास के जाहिरी खोल के नीचे एक बहुत ही नर्म व नाज़ुक ख़्याल है। उसके दिल में सिर्फ़ इन्सानियत और देश और जाति का प्रेम ही नहीं, केवल साहित्य और कला की सेवा की लगन ही नहीं, बल्कि दोस्तों और सम्बन्धियों का प्रेम, पत्नी के प्रति गहरा प्यार और उन सब से सच्चा लगाव मौजूद है। हाँ इसका प्रदर्शन हर समय नहीं, बल्कि किसी ऐसे ही सख्त वक्त पर होता है।

अब्बास के अपना कोई बच्चा नहीं, लेकिन बच्चों से उसे बड़ा प्रेम और दिलचस्पी है। वह उनमें मिलकर स्वयं भी बच्चा बन जाता है और ऐसी हरकत करता है कि बच्चे उसे बिल्कुल अपना हमजोली और दोस्त समझ लेते हैं। बच्चों ही नहीं; किशोर लड़कों लड़कियों से भी वह चन्द मिनट में बेतकल्लुफ़ हो सकता है। वह उनसे मज़ाक़ करेगा, डाँटेगा, बहस करेगा और चीख़े चिल्लायेगा, बिल्कुल उस तरह जैसे अपने लड़के लड़कियों से करता। उसकी ये बचकानी हरकतें और बेतकल्लुफ़ाना ढंग उसे बच्चों और नौजवानों में एक सा प्रिय

बना देता है। वैसे भी अब्बास जिस महफ़िल में पहुँच जाये उस पर आम तौर से छा जाता है।

अब्बास पर्दे का कट्टर विरोधी है लेकिन उसे औरत के नंगे लिबास खुले सर और भड़कीले शृङ्गार से सख्त नफ़रत है। वह औरत को मर्द के बराबर दर्जा देता है, पर सोसायटी की शोख़, चंचल और नुमायश की शौक़ीन औरतों को कभी इज़्ज़त की नज़र से नहीं देख सकता।

वह बड़े से बड़े खतरे का मुक़ाबिला कर सकता है, पर बिल्ली और चूहे से डर जाता है। खुली हुई ठंडी हवा से डरता है और बादल और गरज से घबराता है। बड़े से बड़े आदमियों के रोब में नहीं आता. बड़े से बड़े बुज़ुर्ग का कहना टाल सकता है, लेकिन कोई नन्हा बच्चा, कोई अल्हड़ लड़की बड़ी आसानी से उससे अपनी बात मनवा सकती और अपना रोब जमा सकती है।

अब्बास में बहुत सी कमज़ोरियाँ हैं, लेकिन ये सब वे हैं, जिनसे अधिकतर स्वयं उसे कष्ट और हानि उठानी पड़ती है। उसमें ख़ुदसरी है, ज़िद है, हठधर्मी है मगर इसलिए कि वह अपने व्यक्तित्व को जाति और देश, साहित्य और कला की सेवा के लिए मिटा देना चाहता है। उसके चाहने वाले उसे सोच समझकर, देखभाल कर, ऊँच नीच का ख्याल करके काम करने की सलाह देते हैं और जब वह उनकी नहीं सुनता तो उससे नाराज़ हो जाते हैं; उसकी बेउसूली से और मस्त-मौला हरकतों से कुढ़ते हैं पर उसके प्रेम को दिल से कम नहीं कर सकते। उसके व्याक्तत्व में कुछ ऐसा आकर्षण, उसकी लेखनी में कुछ ऐसा जादू, उसकी निगाहों में कुछ ऐसा असर और उसकी बातों में कुछ ऐसी निष्कपटता और सच्चाई की ऐसी बू-बास है कि लोग उसे चाहने पर मजबूर हो जाते हैं।

लाल और पीला

डेड लेटर

"डार्लिंग !"

"जी ?"

"प्रसादज़ ने आज शाम को ब्रिज और खाने के लिए बुलाया है। याद है ना ?"

"जी।"

"तो मैं आफ़िस से साढ़े-पाँच तक आ जाऊँगा। तुम तैयार रहना।"

"जी।"

जी ! जी ! जी ! बारह वर्ष से वह यह एक-अक्षरी शब्द अपनी पत्नी की ज़बान से सुन रहा था। दस बातों में से नौ का जवाब वह केवल 'जी' से देती थी। जैसे पढ़ाया हुआ तोता केवल एक शब्द बोल सकता हो। जी ! जी !

सुधीर सक्सेना, आई० सी० एस०, डिप्टी कमिश्नर, ज़िला नारायण

गंज, के बारे में हर एक की राय थी कि दुनिया में उससे बढ़कर सौभाग्यशाली कोई न होगा। ऊँचा ओहदा, अच्छा वेतन, रहने के लिए आरामदेह मकान, बिमला जैसी सुव्यवस्था पसन्द और पढ़ी-लिखी पत्नी, जो कमिश्नर साहब के साथ ब्रिज खेल सकती थी, राजा साहब, रामनगर, के साथ डांस कर सकती थी, और तीन सुन्दर, चतुर बच्चों की माँ थी। सब से बड़ा था रणधीर, जो दस वर्ष की उम्र ही में नैनीताल के एक अँग्रेज़ी स्कूल में जूनियर केम्ब्रिज में पढ़ रहा था और अपनी क्लास की क्रिकेट-टीम का कप्तान था और बिलकुल एंग्लो-इंडियन लड़कों की तरह अँग्रेज़ी में बातचीत कर सकता था। उससे छोटी थी सात-वर्षीया ऊषा, जो माँ की तरह ही दुबली-पतली, नाजुक-बदन थी, और वैसी ही बड़ी-बड़ी आँखों और वैसे ही सुनहरे बालों-वाली थी। वह नारायणगंज के एक कान्वेन्ट स्कूल में थर्ड स्टैंडर्ड में पढ़ रही थी और उसे सारे नर्सरी-राइम्स ज़बानी याद थे, और 'ट्विंकिल ट्विंकिल लिट्ल स्टार' जैसी कविताएँ तो वह फ़र्राटे से गाकर सुना सकती थी। और फिर सब से छोटी थी शांति, जो अभी मुश्किल से तीन वर्ष की थी और 'बेबी' कहलाती थी और माता-पिता, दोनों की आँख का तारा थी और बड़े प्यारे अन्दाज़ से तुतला-तुतला कर 'डैडी, टा-टा' या 'ममी, बाई-बाई' कहना सीख रही थी।

हाँ, तो सभी सुधीर सक्सेना, आई० सी० एस०, को अत्यधिक सौभाग्यशाली समझते थे और कभी-कभी वह ख़ुद भी यही समझता था। जो कुछ उसे हासिल था, उससे अधिक वह जीवन में किसी चीज़ की आशा कर सकता था? मगर फिर वह अपनी पत्नी की ज़बान से यह एक-अक्षरी शब्द 'जी' सुनता—बिमला के फीके, बेरंग, थके हुए अन्दाज़ में—और उसकी ख़ुशी और ख़ुशकिस्मती, दोनों पर सन्देह और एक हद तक निराशा के बादल छा जाते।

जी ! कब से यह शब्द उसके जीवन में गूँज रहा था !

बारह वर्ष हुए, वे पहली बार मसूरी में मिले थे । सुधीर उस समय महीने भर पहले इंग्लिस्तान से आया था और नियुक्त होने से पहले कुछ सप्ताह छुट्टी मनाने आया हुआ था । मसूरी खाते-पीते घरानों की सुन्दर, सुसज्जित और दिलचस्प लड़कियों से भरा हुआ था । लाइब्रेरी के सामने हर शाम को लहराती हुई रंगीन साड़ियों, चुस्त क़मीज़ों, रेशमी शलवारों और गले में झूलते हुए दुपट्टों की नुमाइश होती । ऊँची एड़ी के जूतों पर इठलाती हुई चाल, निडर निगाहें, शोख़ जवानियाँ, बाँकी चितवनें, रँगे हुए ओठ, नोच कर बारीक की हुई भवें, पाउडर से दमकते हुए गाल, पर्म किये हुए बाल । हर नौजवान को देखने की खुली दावत थी । मगर न जाने क्यों, सुधीर को सारे मसूरी में कोई सूरत पसन्द आयी, तो सिर्फ़ एक बिमला, जिससे पहली बार उसकी भेंट हेकमैन होटल में एक शाम को टी-डांस के दौरान में हुई थी ।

"हेलो, सुधीर !" उसके पटना के मित्र माथुर ने उसे हाथ से इशारा करके, अपनी मेज़ की तरफ़ बुलाते हुए कहा था—"यहाँ आओ, यार, और इनसे मिलो ।...आप हैं बिमला बैनर्जी । हैं तो बंगाली, मगर लखनऊ में पली हैं । वहीं कॉलेज में पढ़ती हैं ।"

सुधीर ने देखा कि बग़ैर पाउडर के गोरे-गोरे चेहरे पर दो बड़ी-बड़ी आँखें हैं, जिनकी गहराई में कोई दुःख डूबा हुआ है, और जिनके गिर्द काले गड्ढे हैं, और लम्बी नुकीली-शर्मीली पलकें हैं, जो रातों को जागे हुए पपोटों के बोझ से झुकी जा रही हैं ।

वह माथुर के अनुरोध की प्रतीक्षा किये बिना ही बिमला के पास की कुर्सी पर बैठ गया और फिर उसके लिए उस खचाखच भरे हुए बाल-रूम में बिमला के सिवा और कोई न रहा ।

बारह बरस के बाद भी उनकी वह सब से पहली बातचीत आज

तक उसकी याद में ताज़ा थी।

"तो आप आई० टी० कालेज में पढ़ती होंगी?"

"जी।"

"बी० ए० में?"

"जी।"

"अगले साल फ़ाइनल की परीक्षा देंगी?"

"जी।"

दो वर्ष तक अँग्रेज़ स्त्रियों के कर्कश, मर्दाना स्वर सुनने और दो सप्ताह मसूरी की चीख़-पुकार में गुज़ारने के बाद कितनी शांति थी बिमला के कम बोलने में! जैसे आँधी और तूफ़ान और कड़क-चमक के बाद वर्षा थम गयी हो और गुलाब की पंखड़ियों पर से नन्हीं-नन्हीं बूँदें घास पर टपक रही हों! कितनी भारतीयता थी उस 'जी' में, कितनी कोमलता और मिठास, कितनी पवित्रता और लाज!

"आप डांस करती हैं?"

"जी नहीं।"

उनके मित्र नाचने वालों की भीड़ में खो गये थे और अब वे दोनों अपनी मेज़ पर अकेले थे। सुधीर ने सोचा—'अन्त में मेरी तलाश आज समाप्त हो गयी। बिमला से अच्छी पत्नी मुझे नहीं मिल सकती। यह सुन्दर है, मगर शुक्र है कि शोख़ तितली नहीं, जो एक फूल से दूसरे फूल पर भटकती फिरे! पढ़ी-लिखी है, मगर अपनी राय की पक्की और ज़बान की तेज़ नहीं है। खाते-पीते घराने की मालूम होती है, मगर इतनी अमीर भी नहीं है कि एक आई० सी० एस० के प्रस्ताव को ठुकरा दे। इससे शादी करके इन्सान सचमुच सुख और शांति का जीवन व्यतीत कर सकता है।'

और उसने कहा—"तो आपके पिता..."

"वह लखनऊ में रहते हैं। आर्ट स्कूल में पढ़ाते हैं।"

"ओह, आप आर्टिस्ट बैनर्जी की बेटी हैं ? उनके चित्रों की प्रदर्शनी तो हमारे पटना में हो चुकी है।" और फिर उसने सफ़ाई से झूठ बोला—"मुझे उनकी तस्वीरें बहुत पसन्द आयी थीं," यद्यपि उस समय उसने सोचा था कि न जाने इन टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों और नीले-पीले रंग के धब्बों में क्या धरा है, जो लोग उनकी इतनी प्रशंसा करते हैं ? इस क्षण उसे इन चित्रों में से एक विशेष चित्र याद आया—एक ग्यारह-वर्षीया चंचल, चपल बच्ची का चित्र, जो साबुन-घुले हुए पानी के रंगीन बुलबुले बनाकर उड़ा रही थी। चित्र का नाम था—'बुलबुले !'

"वह चित्र 'बुलबुले' आपका ही था न ?"

"जी।"

"उसमें आप बहुत चंचल मालूम होती थीं। पर अब तो आप बहुत सीरियस हो गयी हैं।"

सिर्फ़ इस बार उसने 'जी' कहकर जवाब नहीं दिया। एक अजीब-सी, थकी हुई-सी, बुझी हुई-सी मुस्कुराहट के साथ बोली—"बुलबुले की ज़िन्दगी भी कितनी होती है ? हवा का एक हल्का-सा झोंका भी आया और बुलबुला टूट गया। बस, ख़त्म !"

जब तक वह मसूरी में रहा, उसका अधिकतर समय बिमला की सोहबत में गुज़रा। इकट्ठे वे चंडाल चोटी तक चढ़े और कैम्पटी फ़ाल देखने गये।

इन तमाम दिनों में बिमला ने मुश्किल से एक दर्जन वाक्य उससे कहे होंगे। सुधीर की बातों को वह बड़ी ख़ामोशी और एकाग्रता से सुनती। जब तक वह सीधा सवाल न करता, वह किसी बात पर भी अपनी राय न देती। मगर सुधीर को बिमला के कम बोलने से कोई शिकायत

न थी। बातूनी लड़कियाँ, जो संसार के हर सवाल पर राय रखती हैं और व्यक्त करना आवश्यक समझती हैं, उसे बिलकुल पसन्द न थीं। उसे तो यही अच्छा लगता था कि वह बोलता जाय और बिमला बैठी सुनती रहे और 'जी, जी' करती रहे। जब सुधीर को विश्वास हो गया कि वह बिमला को बहुत पसन्द करने लगा है, बल्कि शायद उससे प्रेम भी करने लगा है, तो एक दिन एकांत में अवसर पाकर उसने 'प्रोपोज़' भी कर डाला।

"बिमला, तुम्हें मालूम है न, कि मैं तुम्हें बहुत पसन्द करने लगा हूँ ?"

"जी।"

"तुम्हारे बिना मैं नहीं रह सकता। क्या तुम मुझसे शादी करोगी ?"

"जी।" इस 'जी' में सवाल भी था और जवाब भी।

थोड़ी देर की ख़ामोशी के बाद वह बोली—"देखिए, मैं आपका बहुत आदर करती हूँ। इसलिए मैं आपको धोखा नहीं देना चाहती। मैं आपसे प्रेम नहीं करती।"

"क्या तुम किसी और से प्रेम करती हो ?"

बिमला की ज़बान से 'जी नहीं' कभी ही निकलता था, मगर इस बार उसने कहा—"जी नहीं।" और फिर एक क्षण की ख़ामोशी के बाद, जिसमें गहरी ठंडी साँस का समावेश था, बोली—"ऐसा कोई नहीं है।"

सुधीर को विश्वास हो गया। उसने कहा—"तो फिर कोई हर्ज नहीं। मैं तुम्हें अपने से प्रेम करना सिखा दूँगा।"

उस दिन जुलाई १९४० की १४ तारीख़ थी।

नौकर ने डाक का पुलिन्दा लाकर सुधीर के सामने रख दिया। सबसे पहली ही चिट्ठी जो उसने खोलने के लिए उठायी, तो उसकी नज़र

डाकखाने की मुहर पर पड़ी—'नारायणगंज—१४, जुलाई, १६५२।' एक क्षण में सुधीर की याद में बारह बरस पहले का वह दिन चौंककर ज़िन्दा हो गया।

लिफ़ाफ़े को छुरी से खोलते हुए सुधीर ने बिमला से पूछा—"जानती हो, आज क्या तारीख़ है?"

"जी!" और उसकी दृष्टि सामने की दीवार पर लगे हुए कैलेंडर पर गयी।

"बारह वर्ष पहले का वह दिन याद है, जब मसूरी में मैंने तुम से 'प्रोपोज़' किया था?"

"जी।" मगर इस 'जी' में केवल स्वीकृति थी, प्रफुल्लता नहीं। सुधीर बारह वर्ष पहले की जिस राख को कुरेदना चाहता था, वह बिलकुल ठंडी थी, ऐसा लगता था कि उसमें कभी भी कोई चिनगारी न थी।

मगर सुधीर ने बिमलाके चेहरे पर एक रंग आते और दूसरा जाते नहीं देखा। वह पत्र खोलकर पढ़ रहा था, जो उसके कॉलेज के पुराने और बेतकल्लुफ़ दोस्त माथुर के पास से आया था, जो अब पटना में बकालत करता था। पत्र पर नज़र डालते ही सुधीर मुस्करा दिया, क्योंकि माथुर ने लिखा था—'यार, तुम कितने ख़ुशकिस्मत हो। बिमला जैसी पत्नी पायी है। भैया, हमें दुआएँ दो कि उस दिन हैकमैन्स में तुम्हारी भेंट उससे करायी। मगर इस दुनिया में कौन किसी का एहसान मानता है?"

"सुना तुमने, माथुर ने क्या लिखा है?"

"जी?"

सुधीर ने बिमला के विषय में जो वाक्य माथुर ने लिखे थे, वे पढ़ सुनाये, और फिर दूसरे पत्रों को खोलकर पढ़ने में व्यस्त हो गया।

और उसने यह नहीं देखा कि माथुर के दोस्ताना मज़ाक को सुनकर बिमला की आँखों में कोई चमक पैदा नहीं हुई। केवल ओठों पर एक कड़वी-सी मुस्कराहट का तनाव पैदा हुआ और फिर एकाएक ग़ायब भी हो गया।

दूसरा पत्र जो सुधीर ने खोला, वह क्लब का बिल था। वह उसने बिमला की तरफ़ बढ़ा दिया, क्योंकि बिलों का भुगतान वही करती थी। तीसरा पत्र आई० सी० एस० एसोसियेशन से आया था, वार्षिकोत्सव और चुनाव के विषय में।

"सुना बिमला, तुमने? इस साल बलदेव और एहसान वग़ैरा सेक्रेटरी के लिए मेरा नाम 'प्रोपोज़' करना चाहते हैं।"

"जी।"

चौथा पत्र उठाया। मगर वह उसके नाम नहीं, बिमला के नाम था। एक मोटा मगर पीला, पुराना-सा लिफ़ाफ़ा था, जिस पर कितनी ही मुहरें लगी हुई थीं और कई बार पते में काट-छाँट की गयी थी। और यह क्या? मिस बिमला बैनर्जी! यह कौन बदतमीज़ है, जो मिसेज़ बिमला सक्सेना को शादी के बारह वर्ष बाद भी 'मिस' लिखता है?

सुधीर ने एक नज़र बिमला की ओर देखा, जो उस समय नौकर को दोपहर के खाने के बारे में हिदायतें देने में व्यस्त थी। यह इतमीनान करने के बाद कि बिमला ने अपना पत्र नहीं पहचाना, सुधीर ने सामने चायदानी रखकर, लिफ़ाफ़ा खोला। शादी के बाद कई वर्ष तक उसने बिमला के नाम आये हुए कितने ही पत्र चुपके-चुपके खोलकर पढ़े थे। मगर सिवाय कॉलेज की सहेलियों या रिश्तेकी बहनों वग़ैरा के, कोई सन्देहात्मक पत्र न मिला था। मगर न जाने क्यों, इस पत्र के लिफ़ाफ़े ही से मालूम होता था कि इसमें कोई पुराना भेद ज़रूर है। शायद आज उसे मालूम हो सके कि इस 'जी' को उकताहट और बेदिली के

पीछे कौन-सी चीज़ छिपी हुई है।

लिफ़ाफ़े से कई पृष्ठों का लम्बा पत्र निकला, मगर उसकी पहली कुछ पंक्तियाँ ही सुधीर की शांति सदा के लिए भंग करने के लिए पर्याप्त थी। लिखा था—

'जान से ज्यादा प्यारी बिमला,

तुमसे मिले दो महीने हो चुके हैं। मेरे लिए ये दो महीने दो बरस से भी अधिक लम्बे हैं। क्या हम सदा इसी तरह छिप-छिपकर ही मिल सकेंगे? यह दीवार जो हमारे बीच खड़ी है, क्या यह कभी ढाई न जा सकेगी ...'

क्रोध और घृणा के जोश से सुधीर के हाथ काँप रहे थे। इससे आगे उससे यह पत्र पढ़ा नहीं गया—यह पत्र जो उसकी पत्नी की बद-चलनी का घोषणा-पत्र था। जल्दी-जल्दी पृष्ठ उलटकर, उसने अन्तिम पृष्ठ पर नज़र डाली। पत्र के अन्त में लिखा था—'सदा सदा के लिए तुम्हारा—अनिल।'

अनिल! उसके मस्तिष्क में यह अनजाना नाम एक बम के गोले की तरह फटा।

"बिमला!" वह चिल्लाया।

और बिमला, जो उस समय कमरे के बाहर जाने वाली थी, ठिठक-कर दरवाज़े के पास रुक गयी।

"जी!"

जी! जी! जी! वही मुलायम, ठंडा, फीका 'जी'! और इस समय सुधीर को ऐसा लगा, जैसे यह छोटा सा शब्द एक ताना हो, एक गन्दी गाली हो, एक तमाचा हो, जो उसकी पत्नी ने उसके मुँह पर मार दिया हो।

"जी?"

"अनिल कौन है?"

सुधीर ने यह प्रश्न इतने अचानक किया कि कुछ क्षण तक बिमला भौंचक-सी खड़ी रही, जैसे समझी ही न हो कि उससे क्या पूछा गया है। मगर फिर जैसे धीरे-धीरे सूर्य पर से बादल हट जाते हैं और बरसात की भीगी धूप ज़मीन पर फैल जाती है, उसी तरह एक धीमी, मीठी, नर्म मुस्कराहट उसके चेहरे पर खेल गयी।

"अनिल !" उसने नर्म आवाज़ में नाम दुहराया—जैसे माँ बच्चे का नाम लेती है, जैसे भक्त भगवान् का नाम लेता है, जैसे कवि अपनी प्यारी कविता गुनगुनाता है। और उसकी आखें एक नये प्रकाश से चमक उठीं—वह प्रकाश, जो बारह वर्ष तक सुधीर ने कभी अपनी पत्नी की आँखों में नहीं देखा था।

"हाँ, हाँ, अनिल ! कौन है वह ?" बिमला की आँखों में उस नये प्रकाश को देखकर सुधीर आपे से बाहर हुआ जा रहा था।

मगर बिमला किसी दूसरी ही दुनिया में थी। उसकी आँखें दूर, बहुत दूर न जाने क्या देख रही थीं। कोई बहुत सुन्दर दृश्य ? कोई दिलकश याद ? आशा की कोई किरण ?

"वह सब कुछ है !" उसके मुस्कराते ओठों ने सुधीर से नहीं, बल्कि दुनिया से कहा। फिर उन ओठों की मुस्कराहट बुझ गयी और उन पर कड़वा व्यंग्य उभर आया। "और अब वह कुछ नहीं है !" और फिर किसी अज्ञात दुख के बोझ से उसकी गर्दन झुक गयी।

"पहेलियाँ मत बुझाओ !" सुधीर चिल्लाया। उसका जी चाहता था कि मेज़ को उलट दे, उन तमाम चीनी के बर्तनों को चकनाचूर कर दे, चायदानी को उठाकर बिमला के सिर पर दे मारे। "सच-सच बताओ, क्या तुम उससे प्रेम करती हो ?"

झुकी हुई गर्दन फिर उठ गयी। आँखों के डबडबाते आँसुओं में से फिर वह प्रकाश झलकने लगा। फीके और बेरंग अन्दाज़ में केवल

'जी' कहने वाली बिमला ने सगर्व सिर उठाकर, सुधीर की आँखों में आँखें डाल दीं। बोली—"जी हाँ, आपका ख़याल ठीक है।"

और उस क्षण सुधीर की दुनिया एकाएक अँधेरी हो गयी। उसे ऐसा लगा, जैसे बिमला ने उसकी इज़्ज़त पर, उसकी आई० सी० एस० की शान पर, उसके पुरुषत्व पर सदा के लिए कालिख पोत दी हो। उसे ऐसा महसूस हुआ, जैसे बिमला ने उसे ऐसी गन्दी गाली दी है, जो उम्र भर उसके कानों में गूँजती रहेगी। उस समय शिक्षा और संस्कृति और सभ्यता के सब छिलके उस पर से उतर गये। अब वह लंदन का पढ़ा हुआ बैरिस्टर नहीं था, आई० सी० एस० एसोसियेशन का होने वाला सेक्रेटरी नहीं था, क्लब का लोकप्रिय सदस्य नहीं था, नारायणगज ज़िले का डिप्टी कमिश्नर नहीं था, जिसकी मुट्ठी में एक लाख से ज्यादा इन्सानों की क़िस्मत थी। इस समय वह केवल एक नंगा वहशी था, गुस्से और जोश में आया हुआ एक मर्द, जिसकी औरत ने उसे धोखा दिया था।

वहशी चिल्लाया—"निकल जाओ इस घर से! इसी वक्त! इसी दम!"

बिमला के चेहरे पर न क्रोध के चिह्न पैदा हुए, न दुख के। वह अब भी किसी दूसरी ही दुनिया में थी। उसने सुधीर की चीख़ को ऐसे सुना, जैसे बहुत दूर से कोई धीमी-सी आवाज़ आयी हो। और एक बार फिर उसके ओठ एक मासूस-सी मुस्कराहट से खिल गये; जैसे भटके हुए यात्री को बड़ी तलाश के बाद रास्ता मिल जाय। जैसे वह देर से, बारह वर्ष से इस घड़ी की प्रतीक्षा कर रही थी और अन्त में वह शुभ साइत आ ही पहुँची।

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। केवल एक नज़र अपने पति की तरफ़ देखा। इस नज़र में शिकायत नहीं, दया थी, क्षमा थी। जैसे

उसकी आँखें कह रही हों, 'इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम इन बातों को नहीं समझोगे।' फिर वह अपने बेड-रूम में गयी और वहाँ से अपनी छोटी बच्ची को गोद में लेकर, बरामदे में से होती हुई, बाहर निकल गयी। उसके क़दमों की आवाज़ दूर होती गयी—यहाँ तक कि बाहर सड़क के शोर में हमेशा के लिए खो गयी।

सुधीर का विचार था कि वह रोयेगी, गिड़गिड़ायेगी, अपने गुनाह की माफ़ी माँगेगी, भविष्य में अपने चरित्र को ठीक रखने का वादा करेगी। लेकिन वह इसके लिए तैयार नहीं था कि बिमला सचमुच घर छोड़कर चली जायेगी। इस ख़ामोश तमाचे से उसका सारा बदन झनझना उठा। हथौड़े की तरह उसके दिमाग़ पर एक ही चोट पड़ती रही। अनिल ! अनिल ! अनिल ! 'यह अनिल कौन है ? मैं उसका पता लगाकर छोड़ूँगा। उस पर एक विवाहिता स्त्री को भगा ले जाने का दावा करूँगा, उसे जेल भिजवाऊँगा, उसे जान से मार दूँगा...'

पागलों की तरह दौड़ता हुआ वह बिमला के कमरे में पहुँचा। उसे मालूम था कि अपने 'वार्डरोब' के एक खाने में बिमला अपने पत्र इत्यादि रखती थी। चाबियों का गुच्छा सामने पलंग पर पड़ा था। जाते-जाते वह उसे फेंक गयी थी। सुधीर ने 'वार्डरोब' खोला, खाने को चाबी लगाकर बाहर खींचा। उसमें रखे हुए पत्रों के पुलिन्दों और काग़ज़ों को टटोला। सब से नीचे की तह में लाल रेशमी फ़ीते से बँधे हुए कुछ पत्र रखे थे। ज़रूर ये अनिल के पत्र होंगे।

उसका विचार ठीक निकला। प्रत्येक पत्र में प्रेम का एलान—'बिमला, मेरी जान !' 'मेरी अपनी बिमला !' 'मेरी अच्छी बिमला !' 'तुम्हारा और सिर्फ़ तुम्हारा अनिल !' 'इस दुनिया में और अगली दुनिया में तुम्हारा, तुम्हारा, तुम्हारा !' हर वाक्य एक ज़हरीले नश्तर

की तरह उसके दिल में लगता रहा। एक-एक करके वे पत्र ज़मीन पर गिरते रहे। मगर यह क्या ? पत्रों के बीच में तह किया हुआ अख़बार का एक पन्ना ! खोलने पर देखा कि एक नवयुवक के चित्र—गहरी चमकती हुई आँखें, ऊँचा माथा, मुस्कराते हुए ओठ – के नीचे यह समाचार छपा हुआ था—

'नवयुवक कवि की मृत्यु'

> हमें यह सूचना देते हुए हार्दिक दुःख है कि लखनऊ के नवयुवक प्रगतिशील साहित्यकार और इन्कलाबी कवि अनिल कुमार 'अनिल' की मृत्यु हो गयी। सन् ३६ के सत्याग्रह में वे जेल गये थे और वहीं उन्हें तपेदिक की बीमारी हो गयी थी...'

सुधीर सारी ख़बर पढ़ नहीं सका, इसलिए कि अख़बार के टुकड़े पर तारीख़ दी हुई थी—१८ जून, सन् १६४० !

उसके हाथ से बाकी पत्र और अख़बार का टुकड़ा ज़मीन पर गिर पड़े। उसकी समझ में कुछ नहीं आया कि क्या बात है। अनिल ! अनिल ! अनिल ! क्या कोई मरकर भी ज़िन्दा हो सकता है ?

खोये हुए मुसाफ़िर, हारे हुए जुआरी की तरह, वह खाने के कमरे में वापस आया। मेज़ पर अनिल का पत्र और लिफ़ाफ़ा पड़े हुए थे। उस ने लिफ़ाफ़ा उठाकर एक बार फिर ध्यान से देखा। दर्जनों गोल मुहरों के बीच एक चौकोर मुहर लगी हुई थी, जिसपर अंग्रेज़ी के तीन अक्षर छपे हुए थे—डी० एल० ओ० (डैड लेटर ऑफ़िस)।

———

अलिफ़ लैला १९५६

यानी पत्थर की सेज पर एक हज़ार रातें

—बेटा ! पहली ही रात हमेशा सबसे ज़्यादा कठिन होती है !

बूढ़े भिखारी के ये शब्द मुझे सदा याद रहेंगे।

जिस अनाड़ीपन से मैं फ़ुटपाथ पर अख़बार के काग़ज़ बिछाकर सोने की तैयारी कर रहा था, उससे वह पहचान गया था कि मैं इस दुनिया में नवागन्तुक हूँ। और एक खुश्क हँसी हँसते हुए उसने कहा—लेकिन घबराओ नहीं, बेटा ! बहुत जल्द इस पत्थर की सेज पर सोने की आदत पड़ जायगी !

अपनी नयी ज़िन्दगी की पहली रात गुज़ारने के लिए मैंने जान-बूझकर एक सुनसान-सी गली का अँधेरा-सा फ़ुटपाथ तलाश किया था। प्रति क्षण यह डर लगा हुआ था कि कोई परिचित न मिल जाय। इन तीन वर्षों में उस स्वाभिमान और शर्म के एहसास को मैं कितनी दूर छोड़ आया हूँ ! दरअसल यह कहना सही होगा कि उस रात को मेरी मौत हुई। पुराना 'मैं' मर गया और फ़ुटपाथ पर रहनेवालों की

गुमनाम बिरादरी में एक ख़ानाबदोश और बढ़ गया।

फ़ुटपाथ से पहले

मुझे उस समय बम्बई आये सिर्फ़ एक महीना हुआ था। लेकिन उन तीस दिनों में मेरी काया ही पलट गयी थी। ऐसा लगता था कि वह नौजवान, जो बोरीबन्दर के स्टेशन पर उतरा था, अब साठ वर्ष का बूढ़ा हो चुका है। न जाने मेरी आँखों की चमक, मेरे गालों की सुर्ख़ी, मेरे बदन की ताक़त इन तीस दिनों में कहाँ ग़ायब हो गयी थी! मैं थर्ड क्लास में हाथरस से बम्बई आया था, लेकिन बिला टिकट नहीं। टिकट के अलावा मेरी जेब में बाईस रुपये थे, मैट्रिकुलेशन का सार्टीफ़िकेट था और अपनी पुरानी, लेकिन काम करती हुई घड़ी थी, जो मुझे अपने स्वर्गवासी पिता से वरसे में मिली थी, और मेरे दिल में जवानी का जोश था, काम करने और उन्नति करने की उमंग थी।

मेरे एक दोस्त ने अपने चचेरे भाई के नाम एक चिट्ठी दी थी कि जब तक मुझे काम और रहने की कोई अलग जगह न मिल जाय, वह मुझे अपने घर रख लें। वह बेचारा एक कपड़े के कारख़ाने में काम करता था और अपनी पत्नी तथा दो बच्चों के साथ परेल की एक चाल में पाँचवें माले पर एक कोठरी में रहता था, जो बम्बई की भाषा में 'खोली' कहलाती है। यह कोठरी या खोली रहने के अलावा नहाने-धोने और खाना पकाने के लिए भी इस्तेमाल होती है। खोलियों की क़तार के पीछे एक पतला-सा बरामदा था, जिसमें से होकर सम्मिलित पाख़ानों को रास्ता जाता था। रात को मैं बरामदे में चटाई बिछाकर सो रहता। पास ही एक कारख़ाने की चिमनी थी, जिसका धुआँ अक्सर हवा के साथ उड़ता हुआ वहाँ आ जाता। इसके अलावा पाख़ानों के नल कभी काम न करते थे और रात-भर ऐसा मालूम होता, जैसे असग़र अली मुहम्मद अली इत्रवाले के कारख़ाने से ख़ुशबूओं के भभके

आ रहे हैं। लेकिन दिन-भर काम तलाश करने के बाद मैं घर लौटता, तो इतना थका हुआ होता कि बिस्तर पर लेटते ही सो जाता। न फ़ैक्ट्री का धुआँ मुझे सताता, न पाख़ानों की बदबू और न उन तमाम लोगों के सुरीले ख़र्राटे, जो मेरी तरह उस बरामदे में सोते थे। और मैं अपने दोस्त के भाई का एहसानमन्द था कि उसकी मेहरबानी से मेरे पास सिर छिपाने का ठिकाना तो है, घर से चिट्ठी मँगाने का एक पता तो है।

और फिर एक रात को जब हवा बन्द थी और बरामदे में हम लोग हाथ के पंखे झलने पर मजबूर थे, खोली के बन्द दरवाज़े के पीछे मुझे खुसुर-फुसुर सुनायी दी।

बाप-रे-बाप, कैसी गर्मी है!—पत्नी कह रही थी—भगवान के लिए दरवाज़ा तो खोल दो! शायद हवा की कोई लहर आ जाय।

पागल हुई है!—उसके पति ने जवाब दिया—दरवाज़ा कैसे खोल सकते हैं, जब वह वहाँ पर सो रहा है? यह तो बड़ी बेशर्मी होगी।

सो अगले दिन 'वह' यानी मैंने उनसे कहा कि मैंने दूसरी जगह सोने का इन्तज़ाम कर लिया है।

—सोच लो, भाई। न जाने वहाँ तुम्हें आराम भी मिलेगा।—उस भले आदमी ने तकल्लुफ़ करते हुए मुझसे कहा।

और मैं सफ़ाई से झूठ बोला—फ़िक्र न करो, वहाँ जगह बहुत है। यह मैंने नहीं कहा कि इतनी बड़ी जगह है, जितना बम्बई शहर है।

पहली रात

'बेदरोदीवार का एक घर बनाना चाहिए।'

बेटा, पहली रात सबसे ज़्यादा कठिन होती है!

भिखारी का कहना कितना सही था! उस रात को मुश्किल से चन्द मिनट सो सका होऊँगा। फ़ुटपाथ के पत्थरों की हज़ारों नोकें मेरे बदन में चुभ रही थीं। पास की नाली से दुनिया की बदतरीन बदबूओं के

झोंके आ रहे थे। मुझे नवागन्तुक समझ एक खाज का मारा कुत्ता मेरा मुआयना करने पर तुला हुआ था। एक मरियल-सी बिल्ली मेरी टाँगों से उलझती हुई एक चूहे का पीछा कर रही थी और कुछ क्षण पहले यही चूहा मेरे पाँव की उँगलियों को कुतरने की चेष्टा कर रहा था। मैंने सोचा कि पैरों की सुरक्षा के लिए जूते पहनकर सोऊँ। अँधेरे में टटोला, तो लगा कि जूते ग़ायब हैं। मैंने तय किया भविष्य में सोते समय कभी जूते नहीं उतारूँगा।

जब आँख न लगी, तो मैंने बीड़ी सुलगायी और आसमान की तरफ़ देखता रहा। सितारे उस फ़ुटपाथ से दूर, बहुत दूर थे। एक क्षण के लिए मुझे यह डर लगा कि आस-पास की ऊँची-ऊँची इमारतें झुककर मुझे देख रही हैं और न जाने कब अड़ा-ड़ा-धम्म करके गिर पड़ें और हम फ़ुटपाथ पर सोनेवालों को चकनाचूर कर दें।

स्कूल में पढ़ा हुआ 'ग़ालिब' का एक मिसरा याद आया :

'बेदरोदीवार का एक घर बनाना चाहिए।'

बहुत कोशिश की कि दूसरा मिसरा याद आ जाय, लेकिन याद न आया, इसलिए देर तक यही गुनगुनाता रहा :

'बेदरोदीवार का एक घर बनाना चाहिए।'

मैंने सोचा, शायद 'ग़ालिब' भी फ़ुटपाथ पर रहना चाहता था, क्योंकि यह भी बेदरोदीवार का घर है। और फिर एक फ़िल्मी गीत का टुकड़ा न जाने कहाँ से तैरता हुआ दिमाग़ में आ गया :

'बिस्तर बिछा दिया है तेरे घर के सामने।'

फिर मैंने पथरीले फ़र्श पर पहलू बदलते हुए सोचा, शेर कहना आसान है, पर फ़ुटपाथ पर सोना मुश्किल है।

अड़तालीसवीं रात

चाँदी की लम्बी सड़क।

अब मैं फ़ुटपाथ के पुराने रहनेवालों में गिना जाता हूँ ।

उस पहली रात के बाद कई रातें मैंने एक उपयुक्त 'बेड-रूम' की तलाश में गुज़ार दीं । कभी मालाबार हिल पर हैंगिंग गार्डन के एक बेंच पर सोया, कभी चौपाटी की नर्म रेत पर समुद्र की ठंडी हवा के झोंकों में, कभी मेरिन ड्राइव पर एक मशहूर फ़िल्म स्टार के फ्लैटके बिलकुल सामने, इतने क़रीब कि कभी-कभी खिड़की के शीशों पर उसका साया कपड़े बदलते हुए नज़र आ जाता और मेरी नींद उचाट कर जाता । लेकिन कहीं भी मैं दो-चार रातों से अधिक न काट सका । हर जगह से पुलिसवालों ने मुझे हँका दिया, जैसे उन ढोर-डंगरों को हँका दिया जाता है, जो पकी हुई खेती में घुस आते हैं । हर बार मैं मन में कहता, अरे भाइयों ! मैं महल नहीं माँगता, बंगला नहीं माँगता, लेकिन मुझे आसमान-तले किसी साफ़-सुथरी जगह पर तो सोने दो ! लेकिन अब मुझे मालूम हो गया है कि जैसे ग़रीब-गुरबा अमीरों के घरों में नहीं रह सकते, उसी तरह वह अमीरों के टहलने, तफ़रीह करने की जगहों या उनके घरों के सामने के फ़ुटपाथ पर भी नहीं सो सकते ।

सो, अब मैं फ़ीरोज़ शाह मेहता रोड पर टहरा हूँ । ठीक एक बैंक के सामने सोता हूँ । न जाने क्यों, मगर यहाँ सोकर बड़ा संतोष-सा होता है मानो यह बैंक मेरी ही सम्पत्ति हो और मैं वहाँ उसकी रक्षा के लिए सो रहा हूँ ।

सोते समय मैं हमेशा अपना मुँह बैंक की शीशेवाली दीवार की तरफ़ रखता हूँ । यहाँ बड़े-बड़े सुनहरे अक्षरों में लिखा है, 'इस बैंक की पूँजी है ५०००००००० रुपये' । अब मुझे अपनी पत्थर की सेज पर सोने की आदत पड़ चुकी है, लेकिन आँख बन्द करने से पहले मैं काफ़ी देर तक इन सात सुनहरे शून्यों को ताकता रहता हूँ, ५०००००००० रुपये, यानी पाँच करोड़ या पचास करोड़ ? हिसाब में मैं हमेशा कमज़ोर रहा हूँ ।

कल रात मैंने सपने में देखा कि मेरे पास चाँदी के रुपयों का ढेर है। लाखों, करोड़ों रुपये. और मैं उन्हें सड़क के बराबर-बराबर रखता चला जाता हूँ, यहाँ तक कि चाँदी की यह जंजीर बम्बई से हाथरस तक जा पहुँची है, जहाँ मेरी माँ और भाई-बहन इस आशा में दिन बिता रहे हैं कि एक दिन उनका सपूत बम्बई से लाखों रुपये कमाकर लायगा।

एक सौ सत्ताईसवीं रात

मेरा पता, ताजमहल होटल।

जिस रात बैंक में डाका पड़ा और मुझे वह जगह छोड़नी पड़ी, उस रात की घटनाएँ अब तक मेरे दिमाग़ में उसी तरह घूमती हैं, जैसे सिनेमा के पर्दे पर कोई ड्रामा। बैंक में आप-से-आप बजनेवाली बिजली की घंटी लगी हुई थी। सुबह के तीन बजे होंगे कि यह घंटी एकाएक बजने लगी और आस-पास के सब फ़ुटपाथ पर सोनेवाले हड़बड़ाकर उठ बैठे। आँखें मलते हुए मैंने देखा कि डाकू बैंक की खिड़की में से कूद रहे हैं। मुझे उन पर बहुत ग़ुस्सा आया, क्योंकि आखिर वह बैंक मेरा ही तो था, जिसमें उन्होंने डाका डाला था और मेरा ही रुपया लेकर तो वे भाग रहे थे।...

सो, मैंने एक डाकू को उसकी पतलून की मोहरी पकड़कर अपनी गिरफ़्त में ले लिया। उसके हाथों में नोटों के बंडल थे, वह उन्हें छोड़े बिना मुझ पर हमला नहीं कर सकता था। मैंने सोचा, क्या पकड़ा है बदमाश को! अब भागकर कहाँ जाता है? लेकिन जब पुलिस की सीटियों की आवाज़ क़रीब आती सुनायी पड़ी, तो उसने बड़े ज़ोर से मेरे लात मारी। लेकिन मैंने तब भी पतलून की मोहरी न छोड़ी। मैं धड़ाम से फ़ुटपाथ पर गिर गया और मेरे सिर में इतने ज़ोर से पत्थर लगा कि तारे नज़र आने लगे। और जब मेरे होश ठिकाने हुए, तो

मैंने देखा कि डाकू की पतलून तो मेरे हाथ में है और डाकू सड़क पर भागा चला जा रहा है : अर्द्धनग्न...बेशर्म कहीं का !

डाकू की पतलून अच्छे क़ीमती कपड़े की थी। पहले तो मैंने सोचा, इसे गोल कर जाऊँ, लेकिन फिर मैंने स्वतन्त्र भारत के एक सम्मानित नागरिक की हैसियत से अपने कर्त्तव्य का अनुभव किया और वह पतलून पुलिस को दे दी, क्योंकि मेरा ख़याल था कि इस निशान से सरकारी जासूस तुरन्त डाकुओं का पता लगा सकेंगे और मेरे बैंक का लुटा हुआ रुपया वापस मिल जायगा। लेकिन थाने में जब उन्होंने मेरा पता पूछा और मैंने जवाब दिया, बैंक के सामनेवाला फ़टपाथ, तो उन लोगों की नज़रें ही बदल गयीं और वे लगे मुझसे सवाल करने, जैसे मैं कोई प्रतिष्ठित और अपना कर्त्तव्य जाननेवाला नागरिक नहीं, चोर-डाकू हूँ। इसके बाद मैंने तय कर लिया कि बैंक के निकट सोना ख़तरनाक है, उससे दूर ही रहना चाहिए। हो सकता है, वह बैंक मेरा नहीं, किसी और का हो।

और अगले दिन से मैं ताजमहल होटल में उठ आया, मेरा मतलब है कि ताजमहल होटल के बाहरवाले बरामदे में, जहाँ उस होटल के मेरे जैसे ग़ैरसरकारी मेहमान ठहरते हैं। इस जगह पर कई सुविधाएँ हैं। एक तो समुद्र के किनारे है, इसलिए रात को ठंडी हवा आया करती है, दूसरे जहाँ मैं सोता हूँ, वहाँ से किचन क़रीब है और खानों की इतनी अच्छी-अच्छी ख़ुशबूएँ आती हैं कि सपने में हमेशा मुर्ग़-मुसल्लम और कैटलेटों के पहाड़ नज़र आते हैं। तीसरे यह कि रात को देर से आने और जानेवाले मेहमानों का नज़्ज़ारा मुफ़्त में होता है। काले सूटोंवाले विलायती साहब लोग, पतले रेशमी फ्राक पहने मेमें, खादी पहने नेता लोग और बारीक शैफ़ून की साड़ियाँ पहने, विलायती सेंट लगाये उनकी श्रीमतियाँ, हीरे-जवाहरात से लदी

रानियाँ, महारानियाँ, बड़ी-बड़ी सुन्दर कारें...

—टा-टा, माई डियर !

—बाई-बाई, डार्लिंग !

दौलत, हुस्न और फ़ैशन का यह तमाशा। सिनेमा से भी अधिक दिलचस्प और आनन्दपूर्ण है। और फिर बिलकुल मुफ़्त और बिना टिकट। सिनेमा में तो चलती-फिरती परछाइयाँ होती हैं, लेकिन ये मेमें, ये मिसें, ये बेगमें, ये रानियाँ, ये देवियाँ, ये कुमारियाँ और ये श्रीमतियाँ, ये सुन्दर नारियाँ जो ताजमहल होटल में डिनर खाने और डांस करने आती हैं, ये तो सब असल हैं, असल ! फ़ुटपाथ पर लेटे-लेटे उनके इत्र और सेंट की ख़ुशबूएँ सूँघी जा सकती हैं। कभी-कभी जब कोई जार्जट की साड़ी या पाँव तक का फ्राक पास से गुज़रता है, तो उसका नर्म स्पर्श महसूस किया जा सकता है। गोरी-गोरी पिंडलियाँ नज़र आती हैं। मेरे पास ही जो नौजवान सोता है, वह फ़िल्मों में एक्स्ट्रा का काम करता है। उसका कहना है कि अगर हम आदमी होते, सिनेमा का कैमरा होते, और जो-कुछ हम लेटे-लेटे कनखियों से देखते हैं, वह फ़िल्मा लिया जाता, तो सेन्सरवाले उस सीन को कभी पास न करते।

और डायलॉग तो ऐसे-ऐसे सुनायी देते हैं कि क्या कभी किसी फ़िल्म में सुने होंगे ! कहते हैं कि शराबबन्दी के इस दौर में भी बड़े-बड़े होटलों में एक 'परमिट रूम' होता है, जहाँ बड़े आदमी सरकारी लाइसेन्स लेकर शराब पीते हैं, शायद इसी लिए आधी रात के बाद जो लोग होटल से निकलते हैं, वे बहुत ही रंगीन और मज़ेदार बातें करते होते हैं, निस्संकोच और निर्भीक होकर, धरती पर पड़े लोगों से बिलकुल बेपरवाह ! जैसे हम मुर्दे हों या मूक और मूढ़ जानवर। या शायद वे लोग समझते हैं कि ये लोग तो सो रहे हैं और जाग भी रहे

हैं, तो फ़ुटपाथ पर बसनेवाले अँग्रेज़ी की बातचीत कैसे समझ सकते हैं। और उन्हें मेरे मैट्रिकुलेशन सार्टीफ़िकेट का तो पता ही नहीं है, न उन्हें मालूम है कि मेरे पास ही सोनेवाला राजू, जो अपने को बेकारी के महकमे का इन्स्पेक्टर कहता है, पंजाब युनिवर्सिटी से बी० ए० पास है। और वे हमारी हस्ती को बिलकुल भूलकर बात करते हैं।

— चलो, डार्लिंग !

—रात को इस वक्त ? कहाँ ?

—चलो, जुहू चलें।...कैसी सुन्दर चाँदनी रात है !

और फिर उनके क़हक़हों में मोटरें स्टार्ट होने की आवाज़ शामिल हो जाती है और कारें रवाना हो जाती हैं। अपोलो बन्दर पर एक सन्नाटा छा जाता है, सिर्फ़ समुद्र की लहरें पत्थर की दीवार से टकराकर फ़रियाद करती हैं और मेरी नींद मुझसे आँख चुराकर उन कारों के साथ उड़ती हुई जूहू के सागर-तट पर जाती है और चाँदनी रात में चमकती हुई रेत पर न जाने किसकी तलाश में घूमती रहती है।...

दो सौ पचहत्तरवीं रात

—अरे वाह यार, दिलीप कुमार !

ताजमहल होटल छोड़े मुझे काफ़ी दिन हो चुके हैं। दरअसल वह जगह मैंने अपनी इच्छा से नहीं छोड़ी, बल्कि मजबूरी से। हुआ यह कि एक लंगड़ा, खाजग्रस्त भिखारी भी हम लोगों के निकट सोने लगा था और एक रात उसने होटल से बाहर निकलती हुई मेम साहब से भीख माँगते हुए उसकी सफ़ेद फ्राक को अपने गन्दे हाथ से छू लिया। मेम साहब ने उसे तो अँग्रेज़ी में गाली देकर झिड़क दिया। फिर शायद मैनेजर से रिपोर्ट की। फलस्वरूप अगली रात को जब हम अपने-अपने बिस्तर बिछाने वहाँ पहुँचे, तो हमें पुलिस की मदद से

बरामदे के बाहर निकाल दिया गया।

तब से मैं मौसम के अनुसार कई मकान बदल चुका हूँ। बरसात से पहले के गर्मी के महीने तो मैंने अपोलो बन्दर पर बिताये। जब बरसात शुरू हो गयी, तो एक बड़ी दूकान के चौड़े बरामदे में शरण ली। यह जगह वर्षा से थोड़ा-बहुत बचाती थी, लेकिन उस दूकान के शीशे की खिड़कियों में प्लास्टर की आदमक़द अर्द्धनग्न लड़कियाँ, जो तैरने का लिबास पहने खड़ी थीं, वे रात-भर मुझे घूरती रहीं। अब मैं बेकार नहीं हूँ। एक दफ़्तर में पैंतालीस रुपये माहवार पर चपरासी की नौकरी मिल गयी है। यह दफ़्तर 'इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट' का है। यानी इधर का माल उधर और उधर का माल इधर! लेकिन मैं तो कभी न कोई सामान आता-जाता देखता हूँ, न कोई गाहक आता है। अलबत्ता तार दिन-रात आते हैं, टेलीफ़ोन हर वक़्त बजते रहते हैं। कभी हिन्दुस्तान के किसी शहर से, तो कभी किसी दूसरे मुल्क से। कभी सिंगापुर, कभी कोलम्बो, कभी लंदन, कभी न्यूयार्क। मुझे तो कोई काला बाज़ार का धन्धा मालूम होता है। लेकिन जब तक अपने पैंतालीस रुपये हर महीने खरे हैं, अपने से क्या मतलब कि उस दफ़्तर में क्या होता है।

हाँ, तो काम मेरे पास है, लेकिन सिर छिपाने और सामान रखने का अब तक कोई ठिकाना नहीं है। छोटी-से-छोटी खोली के लिए लोग दो सौ पगड़ी माँगते हैं। इतने रुपये इकट्ठे मेरे पास कहाँ से आते? हो सकता था कि मैं शहर के बाहर मज़दूरों के झोंपड़ों की बस्तियों में चला जाता, जो उन्होंने अपने हाथों से स्वयं बनायी हैं। लेकिन ऐसी बस्तियाँ शहर से बहुत दूर हैं और मैं शहर के हंगामों में रहना चाहता हूँ। एक समय था कि निकट से एक ट्राम गुज़र जाय, तो मेरी आँख खुल जाती थी, पर अब दर्जनों ट्रामों और बसों के शोर में भी आराम से सोता रहता हूँ। कान पर जूँ नहीं रेंगती, बल्कि अब शहर की

हलचल, रोशनी, दौड़-धूप और चीख़-पुकार के बिना मुझे ऐसा लगता है कि ज़िन्दगी अधूरी है।

यह भी सम्भव था कि मैं चार-पाँच आदमियों के साथ मिलकर एक खोली ले लूँ। ऐसी हालत में मुझे दस-बारह रुपये माहवार किराया देना पड़ता। किसी दोस्त की मेहरबानी से रात-भर के लिए मैं ऐसी खोली में सोया भी। लेकिन वहाँ इतनी गर्मी थी, इतनी गर्मी थी कि रात-भर मैं पसीने में शराबोर रहा। छोटी-सी कोठरी बिना खिड़कियों की और उसमें छः सोनेवाले। सब के हाज़मे ख़राब और सब ख़र्राटे लेनेवाले। अगले दिन ही मैं वहाँ से भाग आया। उस कोठरी से तो अपना हवादार फ़टपाथ हज़ार दर्जा बेहतर है।

सो, अब मैं लैमिंगटन रोड पर आ गया हूँ, ताकि जब जेब में सिनेमा देखने के पैसे न हों, तो फ़ुटपाथ पर से ही सिनेमा घरों की रौनक़ और हलचल का नज़ारा कर सकूँ। जब किसी फ़िल्म का प्रीमियर होता है, उस रात तो बड़े-बड़े फ़िल्मस्टारों का नज़ारा हो जाता है। कैसी अच्छी-अच्छी मोटरों में वे सब आते हैं! वाह-वाह! एक दिन तो भीड़-भड़क्के में मैं दिलीप कुमार की मोटर के इतने क़रीब था कि मोटर की खिड़की में सिर डालकर कह दिया—अरे वाह यार दिलीप कुमार! हाथ तो मिलाओ!

लेकिन उस शोर और गड़बड़ के कारण शायद उस बेचारे ने सुना नहीं और इससे पहले कि वह मुझसे हाथ मिलाता, पुलिसवालों ने धक्के और लाठियाँ मार-मारकर हम लोगों को वहाँ से हटा दिया।...

मेरे ख़याल में मुझे यहाँ से भी कहीं और जाना पड़ेगा। यह जगह पुलिस-थाने से बहुत ही करीब है।

पाँच सौ छब्बीसवीं रात

—जहाँ रेलें लोरियाँ सुनाती हैं!

रात को ख़ासी सर्दी पड़ने लगी है और मैं खुला फ़ुटपाथ छोड़कर दादर में एक रेल के पुल के नीचे आबाद हो गया हूँ। रात-भर रेलें लोरियाँ सुनाती हुई सिर पर से गुज़रती रहती हैं। ऐसा महसूस होता है, जैसे सिर की मालिश और सारे बदन की चम्पी हो रही है और बिलकुल मुफ़्त!

रात को ओढ़ने के लिए मैं कैनवेस का एक पोस्टर ले आया हूँ, जिस पर 'रात की रानी' फ़िल्म की हीरोइन मिस चंचल बाला का एक बहुत बड़ा चेहरा बना हुआ है। सिर्फ़ नाक ही एक फ़ुट से अधिक लम्बी है और एक-एक आँख मेरे जूते के बराबर। आधी रात बाद जब ठंडी हवा चलती है, मैं कैनवेस की उस रंगीन रज़ाई को ओढ़ लेता हूँ।

पहले तो मैंने शराफ़त बरती और कैनवेस को सीधी तरफ़ से ओढ़ता रहा, ताकि तस्वीरवाली साइड बाहर रहे, लेकिन आस-पास के फ़ुटपाथ पर रहनेवाले ठहरे सब के सब बदमाश, लोफ़र। आते-जाते फ़िक़रे कसते, चंचल बाला के हसीन चेहरे को ताकते, घूरते, और एक बेहूदे ने तो उसके सुन्दर अधरों के ऊपर कोयले से एक मूँछ भी बना दी। सो, उस दिन से मैं कैनवेस को उलटा करके ओढ़ने लगा हूँ और रात भर सपने में मुझे एक अजीब ख़ुशबू परेशान करती रहती है और समझ में नहीं आता कि यह कैनवेस और आयल पेंट की बू है या मिस चंचल बाला के चेहरे पर जो गुलाबी पौडर लगा है, उसकी ख़ुशबू...

आठ सौ चालीसवीं रात

—सुर्ख़ फूल और एक साँवला, पीला चेहरा!

बाहर का मौसम फ़ुटपाथ को भी नज़रअन्दाज़ नहीं करता।

गुलमोहर के पेड़ पर पत्ता एक भी नहीं, लेकिन उसकी सूखी टहनियों पर हज़ारों लाल-लाल फूल खिल गये हैं। जब कभी मैं उन फूलों को देखता हूँ, तो सोचता हूँ कि इनमें कोई गहरा दार्शनिक संकेत छिपा है। अगर मेरी बेरंग ज़िन्दगी इस सूखी हुई टहनियोंवाले पेड़ की तरह है, तो यह सुर्ख़ फूल ? मगर बस, इसके आगे मेरा दिमाग़ काम नहीं करता। असल में फ़ुटपाथ पर रहनेवालों को कोई फ़िलासफ़ी नहीं सूझती। यह और बात है कि फ़िल्मों में भिखारी भी बात-बात पर फ़िलासफ़ी बघारते हैं, लेकिन वास्तव में वे विचार भिखारी के नहीं, सम्वाद लेखक के होते हैं, जो शायद अपने एयरकंडीशंड कमरे में बैठकर फ़ुटपाथ की फ़िलासफ़ी सोचता है।

फिर भी इतना मैं ज़रूर जानता हूँ कि बहार का मौसम शुरू हो चुका है और शायद मेरी ज़िन्दगी में भी बहार आ गयी है। मेरा जी चाहता है कि घंटों गुलमोहर के फूलों को देखता रहूँ और इससे भी ज्यादा मेरा जी चाहता है कि मैं चम्पा को देखा करूँ। चम्पा, जिसका हुस्न फ़ुटपाथ की इस गन्दी दुनिया में उतना ही अजीब और हैरत-अंगेज़ है, जैसे कीचड़ में उगा हुआ कमल या सूखी टहनियों पर खिले सुर्ख़ फूल। मुझे पता नहीं, वह कहाँ से आयी है, लेकिन मैं इतना ज़रूर जानता हूँ कि वह ख़ूबसूरत है। उसकी साँवली रंगत में नमक भी है और पुराने सोने जैसी एक मद्धिम पीलाहट भी। बड़ी-बड़ी ख़ूबसूरत आँखें, जो पलकों की जालियों में से ऐसे झाँकती हैं, जैसे कोई पर्देदार हसीना। लम्बे, चमकीले, काले बाल, जिन्हें वह अक्सर एक टूटे हुए कंघे से बैठी-बैठी सँवारा करती है और ऐसा लगता है, मानो उन बालों में भी जान है, अपना अलग व्यक्तित्व है। कभी वे हवा के झोंके से चम्पा के चेहरे पर बिखर जाते हैं। कभी वे कंघे के टूटे हुए दाँतों से उलझ जाते हैं। कभी लम्बी चोटी की शक्ल में नागिन

बनकर देखनेवालों को डसते हैं। कभी जूड़ा बनकर सिमट जाते हैं। चम्पा के पास ज़ेवर तो क्या, कोई ढंग का कपड़ा भी नहीं है। जवानी से गदराया हुआ उसका बदन मैले-गन्दे कपड़ों में छिपा रहता है। लेकिन उसके घने, लम्बे, चमकीले, काले बाल ज़ेवर और गहनों, रेशमी साड़ियों और हर तरह की सजावट से अधिक मनोहर और सुन्दर हैं।

अपने कोने में बैठा-बैठा मैं चम्पा को घूरता रहता हूँ। हमारे फ़ुटपाथ पर जितने लोग रहते हैं, सब ही उसे घूरते हैं। लेकिन मैं जानता हूँ कि वह मुझे एक ख़ास नज़र से देखती है। और यह शायद महज़ संयोग नहीं था कि कल सवेरे हम नल पर मुँह धोने एक ही साथ पहुँचे और जब नल बन्द करते हुए मेरा हाथ संयोगवश उसके हाथ से छू गया, तो उसने मेरा हाथ झटका नहीं, न उसकी त्योरी पर नाराज़ी का कोई बल आया, बल्कि मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि उसे यह स्पर्श अच्छा लगा...या हो सकता है, यह सब मेरी अपनी कल्पना की करामात हो।

बात यह है कि चम्पा कोई ऐसी वैसी लड़की नहीं है, जैसी कई लड़कियाँ पिछले दो वर्ष में मुझे फ़ुटपाथ पर मिली हैं। उसकी आँखों में एक अजीब दर्द छिपा है। दर्द भी और भय भी। उसकी आँखें हिरनी की तरह मालूम होती हैं, जो शिकारियों के घेरे में फँस गयी हो और उसे प्रतिक्षण गोली खाने का डर हो। या शायद यह हिरनी गोली खाकर घायल हो चुकी थी। लेकिन कभी-कभी जब वह अपने विचारों में खोयी हुई होती है और उसे मालूम नहीं होता कि कोई उसे देख रहा है, लेकिन मैं कनखियों से देखता होता हूँ, उस समय मुझे ऐसा मालूम होता है कि उसकी ख़ूबसूरत, काली आँखें किसी सुन्दर, प्यारी कल्पना से चमक रही हैं और उसके पतले-पतले ओठों पर

धीमी सी, मद्धिम-सी, बुझी-बुझी मुस्कराहट उभर आयी है... जैसे वह अपनी ज़िन्दगी का कोई बहुत सुन्दर, बहुत प्यारा क्षण याद कर रही हो...

हर आदमी ने उससे दोस्ती करने की चेष्टा की है। लेकिन चम्पा किसी से बात नहीं करती। कई आवारा नौजवानों ने उसकी तरफ़ देखकर सीटियाँ बजायी हैं, आहें भरी हैं, फब्तियाँ कसी हैं, लेकिन चम्पा ने आज तक किसी को मुँह नहीं लगाया। दुनिया में उसकी सिर्फ़ एक दोस्त और साथी है। वह एक लंगड़ी, खाजग्रस्त, भूख की मारी कुतिया, जिसे वह 'मोती मोती' कहकर पुकारती है। समझ में नहीं आता, ऐसी ख़ूबसूरत जवान लड़की ऐसे कुरूप और गन्दे जानवर से कैसे प्यार कर सकती है, लेकिन फ़ुटपाथ की दुनिया में अनोखे पात्र रहते हैं, अजीब व ग़रीब घटनाएँ होती हैं। और इसलिए थोड़े दिनों में हम चम्पा और उसकी कुतिया को भी अपने फ़ुटपाथ की छोटी-सी बिरादरी में शामिल समझने लगे हैं, लेकिन वह अब भी उसमें से किसी से बात नहीं करती है।

दिन में चम्पा क्या करती है, यह मुझे या किसी को भी नहीं मालूम। लेकिन प्रतिदिन शाम को जब मैं काम पर से लौटकर आता हूँ, तो मेरा दिल इस डर से धड़कता होता है कि शायद वह हमारा फ़ुटपाथ छोड़कर कहीं और न चली गयी हो। लेकिन जब मैं देखता हूँ कि वह मौजूद है और अपने कोने में बैठी मोती से बातें करती है, जैसे वह कुतिया न हो, उसकी सहेली हो, उस वक्त मुझे एक अजीब इतमीनान और प्रसन्नता का अनुभव होता है और अनायास मैं कोई फ़िल्मी गीत गुनगुनाने लगता हूँ और जब रात को हम सब चिथड़े या रद्दी कागज़ बिछाकर अपने-अपने बिस्तर तैयार करते हैं, तो दो-चार मनचले हमेशा इस ताक में रहते हैं कि चम्पा के कोने

की तरफ़ सरकते जायें। राधिया जिसका स्याह शरीर पहलवानों जैसा है, और बंसी जो दुबला-पतला है और हमेशा पान खाता और फ़िल्मी गीत गाता रहता है और जो किसी सिनेमा के सामने टिकटों का काला बाज़ार करता है, उन दोनों की गन्दी निगाहें हमेशा चम्पा का पीछा करती रहती हैं। लेकिन चम्पा इतमीनान की नींद सोती है इसलिए कि रात-भर मोती उसके सिरहाने बैठी चौकीदारी करती है और अगर कोई चम्पा की तरफ़ पग बढ़ाता है, तो वह इतने ज़ोर से भूँकती है कि सब जाग उठते हैं और मुजरिम लज्जित होकर बड़बड़ाता अपने बिस्तर पर आकर लेट जाता है।

कल रात तो मोती ने बंसी की टाँग ही पकड़ ली थी। यद्यपि वह यही कहे जा रहा था कि मैं तो नल पर पानी पीने जा रहा हूँ, लेकिन कुतिया भूँके जा रही थी और हम लोगों का हँसी के मारे बुरा हाल था।

सुना है, आज बंसी ने हस्पताल जाकर पेट में सुये लगवाये हैं। मुझे मोती की यह हरकत बहुत पसन्द आयी, इसलिए कि मुझे चम्पा से काफ़ी दिलचस्पी पैदा हो चली है, बल्कि शायद दिलचस्पी से भी ज़्यादा......

नौ सौ सातवीं रात

एक आदमी, एक औरत, एक जानवर!

आज रात मैं बहुत ख़ुश हूँ। इतना ख़ुश हूँ कि सो नहीं सकता।

आज चम्पा ने जो मुझसे बात की, पहली बार।

शाम को जब मैं काम से वापस आया, तो मैंने देखा कि फ़ुटपाथ पर सन्नाटा है। तब मुझे याद आया कि आज दीवाली की रात है। इसलिए फ़ुटपाथ के हमारे सारे पड़ोसी रोशनियाँ देखने, भीड़ में जेबें काटने, भीख माँगने और मन्दिरों में से मुफ़्त मिठाई लाने गये हैं।

सिर्फ़ चम्पा वहाँ मौजूद थी और वह नल के पास बैठी अपनी कुतिया को नहला रही थी।

मेरा जी चाहा कि दूसरों की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर चम्पा से बात करूँ, लेकिन फिर मैंने सोचा कि शायद वह झिड़क दे, इसलिए मैंने सिर्फ़ खँखारकर अपनी वापसी का ऐलान किया।

—अरी मोती!—चम्पा ने कुतिया से कहा—तू दीवाली की रोशनी देखने नहीं जायगी?

कुतिया ने अपना गीला सिर ज़ोर से हिलाया और पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदें हवा में उड़ाने लगी। मैं समझ गया कि सवाल दरअसल मुझसे किया गया है। लेकिन फिर भी मुझमें सीधे उससे बात करने का साहस न हुआ।

फिर वह बोली—शायद तुझे भीड़ से डर लगता है। आज सड़कों पर लोग भी तो बहुत होंगे।

इस बार मैं बोल ही पड़ा—तुम ठीक कहती हो, चम्पा, मैं भीड़-भाड़ पसन्द नहीं करता।

उसे मालूम था कि मैं कुछ कहूँगा। लेकिन फिर भी जब मैंने सीधे उससे बात करने का साहस किया, तो वह कुछ घबरा-सी गयी।

फिर वह उठी और कुतिया से या मुझसे बोली—चलो, हम भी दीवाली की रोशनी देख आयें, मगर देखना भीड़-भड़क्के से दूर ही रहना।

एक आदमी, एक औरत, एक जानवर! हमारा अजीब-ग़रीब जलूस शहर की तरफ़ रवाना हुआ। चम्पा ने हैरत और ख़ुशी से जगमगाती ऊँची-ऊँची इमारतें देखीं और मैंने उन तमाम रोशनियों को चम्पा की आँखों में झलमिलाते देखा। फिर भी हमने कोई बात नहीं की। ख़ामोशी से चलते रहे। वापस होते वक्त हम एक बड़ी

शानदार दूकान के सामने से गुज़र रहे थे, जिसके शीशे की खिड़कियों में रंग-बिरंगी रेशमी साड़ियाँ और सोने-चाँदी के गहने सजे थे। एक क्षण के लिए चम्पा उन साड़ियों के सामने ठहरी और मैंने उसके चेहरे का प्रतिबिम्ब शीशे में देखा। उसकी आँखों में एक अजीब आरज़ू थी और एक अजीब मायूसी और वह उन साड़ियों को इस तरह देख रही थी, जैसे वे केवल रेशमी साड़ियाँ न थीं, भोग-विलास की वे सारी वस्तुएँ थीं, जिनसे उसका जीवन वंचित था।

और मेरा जी चाहा कि मैं उससे चीख़कर कहूँ, चम्पा ! मेरी अपनी चम्पा ! मैं एक दिन तुम्हें ये सब चीज़ें ला दूँगा। ये रेशमी साड़ियाँ, ये ज़ेवर, ये गहने ! मैं तुम्हें दुनिया की सारी सुन्दर वस्तुएँ भेंट करूँगा, इसलिए कि तुम सुन्दर हो, जवान हो और तुम्हारा अधिकार है कि तुम्हारे शरीर पर ऐसी रंगीन साड़ियाँ हों, तुम्हारे कानों में ये सुन्दर बुन्दे झूलते हों और तुम्हारे माथे पर वह झूमर जगमगाता हो। नहीं-नहीं, मैं तुम्हें इन सबसे ज़्यादा ख़ूबसूरत और प्यारी भेंट देना चाहता हूँ, एक प्रेम करनेवाला पति, एक छोटा-सा घर, संतान ! काश, एक बार तुम मुझसे कुछ माँगो तो सही !...लेकिन उसने मुझसे कुछ नहीं माँगा, उसने मुझसे कुछ नहीं कहा। सिर्फ़ हल्की-सी एक ठंडी साँस भरी और अपनी कुतिया से कहा—चल, मोती, घर चल।

घर ! वह इस फ़ुटपाथ को घर कहती है ! वह चन्द चीथड़ों और चन्द ठीकरों को घर कहती है, आह चम्पा ! काश, मैं तुझे एक सचमुच के घर में ले जा सकता !...

और अब आधी रात बीत चुकी है। सब सो रहे हैं और मैं अपनी डायरी लिख रहा हूँ। जहाँ मैं बैठा हूँ, वहाँ से चम्पा को देख सकता हूँ। गैस की पीली रोशनी उसके चेहरे पर पड़ रही है और वफ़ादार मोती पास बैठी चौकीदारी कर रही है। इस समय चम्पा और भी

सुन्दर दीख रही है। ऐसा मालूम होता है कि सोते समय वह अपनी ज़िन्दगी की सब महरूमियों, सब तकलीफ़ों को भूल जाती है। उसके ओठों पर एक मासूम-सी मुस्कराहट है, जैसे वह कोई सुखद सपना देख रही हो। और मैं सोचता हूँ कि उसके मुस्कराते हुए सपनों में मेरे लिए भी कोई जगह है या नहीं?

नौ सौ चव्वालीसवीं रात

ख़ुशख़बरी, मगर कब?

हम फ़ुटपाथ पर रहने वालों को राजनीति, एलेक्शन, कांग्रेस, सोशलिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी, लोक-सभा, पंचवर्षीय योजना, बजट आदि से कोई दिलचस्पी नहीं है, क्योंकि ये-सब चीजें हमें अपनी ज़िन्दगी से बिलकुल अलग मालूम होती हैं। अख़बारों से हम ज़रूर दिलचस्पी रखते हैं। लेकिन सिर्फ़ रद्दी अख़बारों से, फ़ुटपाथ पर बिस्तर बिछाने के लिए, और कभी ओढ़ने के लिए। लेकिन आज सुबह मैं सोकर उठा और अपना काग़ज़ी बिस्तर लपेटने लगा, तो अख़बार में एक सुर्ख़ी देखी:

'बेघरों के लिए घर बनेंगे'

पूरी ख़बर पढ़ी, तो मालूम हुआ कि सरकार ने कई हज़ार छोटे-छोटे घर बनाने की योजना बनायी है और ये घर हमारे-जैसे ग़रीबों के लिए बनेंगे। मैंने यह ख़बर अख़बार में से फाड़ ली और एहतियातन लपेटकर जेब में रख ली, बायीं तरफ़ की जेब में, अपने दिल के क़रीब। न जाने क्यों दिन-भर मुझे हार्दिक संतोष रहा और मैं अपना काम बड़ी प्रसन्नता और फुर्ती से करता रहा। यद्यपि दफ़्तर के मैनेजर की डाँट सुननी पड़ी, क्योंकि मैं दफ़्तर में बहुत ज़ोर से सीटी बजा रहा था

शाम होते ही मैं सीधा घर, यानी फ़ुटपाथ को वापस आया

खाना भी नहीं खाया। इस समय तक और लोग अपने-अपने काम से नहीं लौटे थे। चम्पा अकेली बैठी मोती से बातें कर रही थी।

-- चम्पा! चम्पा!

आज मैंने उसका नाम लेकर पुकारा।

--देख तो सही, इस पेपर में कितनी अच्छी ख़बर है!—और वह कतरन मैंने जेब से निकालकर उसे दे दी।

उसने काग़ज़ को पढ़े बिना इनकार में सिर हिलाकर कहा—मैं तो अनपढ़ हूँ। तुम ही बताओ, क्या लिखा है?

—लिखा है कि सरकार हमारे-जैसे बेघरों के लिए, जो फ़ुटपाथ पर सोते हैं, घर बना रही है! -- मैं बहुत जोश में बातें कर रहा था—है न बहुत अच्छी ख़बर! अब हम फ़ुटपाथ पर सोने के बजाय अपने घर में रहेंगे!...अपने घर में!...मैं...और...तुम...समझी न, चम्पा?

उसने सिर हिलाकर 'हाँ' कहा और फिर एक अजीब-सी मुस्कराहट के साथ, जो मुस्कराहट भी थी और ठंडी साँस भी, उसने पूछा—मगर कब?

अब मुझे सारी ख़बर को ग़ौर से पढ़ना पड़ा। लिखा था कि उन घरों को बनाने के लिए काम तो जल्द शुरू हो जायगा, लेकिन अनुमान किया जाता है कि सब बेघरों को बसाने के लिए काफ़ी मकान बनाने होंगे और इसमें कम-से-कम दस बरस लगेंगे।

दो शब्दों 'मगर कब?' से मेरा सुबहवाला जोश किसी हद तक ठंडा पड़ गया है, लेकिन फिर भी मैं निराश नहीं हूँ और भगवान से मना रहा हूँ कि जब ये घर तैयार होने शुरू हों, तो हमारा, यानी मेरा और चम्पा का, घर पहले बन जाय। और लोग इन्तज़ार कर सकते हैं, लेकिन मुझे जल्दी है। शादी करनी है, गृहस्थी बनानी है।......फिर बच्चे होंगे।...इसलिए जल्दी-से-जल्दी हमें घर मिलना ही चाहिए!...

नौ सौ पचहत्तरवीं रात

हमारा घर !.... हमारा घर !

आज रात तो मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं। और तो और, चम्पा भी अपनी मुस्तक़िल ख़ामोशी के गुम्बद से निकल रही है। मैं डायरी लिख रहा हूँ और वह ईंटों के चूल्हे पर मिट्टी की हांडी में दाल पका रही है और साथ-साथ अपने देश का एक लोकगीत गुनगुना रही है। मैं इस गीत से परिचित हूँ। यह गीत गाँव की औरतें शादी के मौक़े पर गाती हैं।

चम्पा को ख़ुश और आनन्दमग्न गाती देखकर फ़ुटपाथ पर रहनेवाले सब हैरान हैं। सिर्फ़ एक मुझे अचरज नहीं है, इसलिए कि मुझे चम्पा की ख़ुशी का कारण मालूम है।

आज हम अपने घर को देखने गये, जिसमें हम शादी के बाद रहनेवाले हैं।

हुआ यह कि हमारे फ़ुटपाथ के पास कई दिन से बड़ी चहल-पहल है। रोशनी, लाउड स्पीकरा पर चीख़-पुकार, हज़ारों लोगों की भीड़। रात के एक बजे तक मेला-सा लगा रहता है। हमारा सोना मुश्किल हो गया है। यह कोई नुमायश हो रही है। दरवाज़े पर बोर्ड लगा है—

पंचवर्षीय योजना

जैसा मैंने पहले भी इस डायरी में लिखा है, हम फ़ुटपाथ पर रहनेवाले ऐसी बातों में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं लेते, क्योंकि हम तो यही समझते हैं कि ये योजनाएँ, ये प्लान, ये प्रोजेक्ट हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। लेकिन जब मैंने बोर्ड पर लिखा देखा—पंचवर्षीय योजना—तो मेरी याद में घंटी-सी बजी, क्योंकि उस ख़बर में, जिसकी कतरन अब तक मेरी जेब में सुरक्षित है, लिखा था, दूसरी पंचवर्षीय

योजना में बेघरों के लिए घर बनाने की योजना भी सम्मिलित है। सो, मैंने यह सोचा, इस नुमायश में जाकर देखना तो चाहिए। भीड़ के साथ बहता हुआ मैं भी अन्दर पहुँच गया। बहुत ही अजीब-ग़रीब चीज़ें देखीं। तस्वीरें, नक्शे, पाँच साल में यह होगा, पाँच साल में वह होगा। इतने इंजन बनेंगे, इतने हज़ार मील रेल की पटरी बनेगी, इतने कॉलेज, इतने हस्पताल। और मैं मन-ही-मन कहता रहा, हमें क्या, हमें क्या? लेकिन एक चीज़ ऐसी भी देखी, जिसमें मुझे बहुत दिलचस्पी है और जिसे मैं देखना चाहता था। कई मिनट तक मैं उसके सामने खड़ा रहा। फिर मैं वहाँ से भागा, अपने फ़ुटपाथ पर आया और किसी की परवाह किये बिना चम्पा का हाथ पकड़कर उसे घसीटता हुआ नुमायश में ले गया।

—देख, चम्पा, हमारा घर!

मैंने माडल की तरफ़ इशारा करते हुए ख़ुशी से चीख़कर कहा। वह घर नहीं था, सिर्फ़ घर का माडल था, जैसा गुड़ियों का घर होता है। लेकिन उस पर जो बोर्ड लगा था, उस पर लिखा था, बेघरों के लिए ऐसे हज़ारों घर बनाये जायेंगे।

देर तक हम उस गुड़िया-घर के सामने खड़े उसे अचरज और प्रसन्नता से ताकते रहे। एक कमरा, एक रसोई-घर, एक बरामदा, एक पेड़ और पेड़ के नीचे तीन नन्हीं गुड़ियाँ, तीन बच्चे। ऐसा लगता था मानो हमारी सारी आकांक्षाएँ, हमारे सारे सपने इस माडल में सिमट आये हैं। जब हम वहाँ से लौटे, तो मैंने देखा कि चम्पा की आँखों में ख़ुशी के आँसू थे।

अब वह सो रही है और उसके चेहरे पर एक संतोष, प्रसन्नता और आशा की मुस्कान है।...

नौ सौ अठहत्तरवीं रात

मौत का साया !

हमारे सुख के सपनों पर मौत ने अपना भयानक साया डाल दिया है।

चम्पा की कुतिया मोती मर गयी है।

किसी ने उसे ज़हर दे दिया है और ऐसा लगता है कि मोती के साथ चम्पा के दिल का एक टुकड़ा भी मर गया है। ज़हर किसने दिया, इसका कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन राखिया इतना प्रसन्न क्यों दिखता है ? हो सकता है यह हत्या उसने ही की हो।

बहुत देर तक तो चम्पा मोती को गोद में लिये बैठी रही और उसकी मूक आँखों से आँसू बहते रहे। फिर वह उठी और दोनों हाथों पर शव उठाये, जैसे बाप अपने बेटे का शव लेकर श्मशान जाता है, समुद्र की ओर चली गयी। मैंने चाहा कि उस समय उसके साथ जाऊँ, लेकिन चम्पा ने ख़ामोशी से मुड़कर इस ढंग से मुझे देखा कि मैं वहीं ठहर गया। उसकी आँसुओं से भरी आँखें कह रही थीं — तुम मत जाओ, इस समय मैं अकेली जाना चाहती हूँ।

कोई एक घंटा बाद वह वापस आयी। ख़ाली हाथ। उस समय उसकी आँखें ख़ुश्क थीं। वह ऐसी मौन और मलीन थी कि डर लगता था, कहीं दिमाग़ पर तो कोई असर नहीं हुआ। मैंने उसे सान्त्वना देने की कोशिश की, खाने को भी कहा, लेकिन चम्पा ने जवाब में मेरी ओर निगाहें उठाकर अचरज से देखा मानो कह रही हो, मेरी प्यारी मोती मर गयी है ! आज की रात मैं कैसे खा सकती हूँ ?

और मैं चुप रह गया।

राखिया ने चिल्लाकर कहा—क्यों, चम्पा ! अब तेरी चौकीदारी कौन करेगा ? कुतिया तो मर गयी ! उसकी जगह अपनी रक्षा के लिए

मुझे रख ले—और यह कहकर अपनी बात पर वह स्वयं ही हँसा। लेकिन किसी ने उस हँसी में उसका साथ न दिया। चम्पा ने भी कोई जवाब न दिया, सिर्फ़ ख़ामोशी से एक बार उसकी ओर देखा। उसकी निगाह में इतनी घृणा, इतना विरोध था कि राधिया के चेहरे पर से हँसी ग़ायब हो गयी और वह खीजकर खाँसने लगा।

फिर चम्पा ने अपने चिथड़ों-गुदड़ों का पुलिन्दा उठाया और हम सब से दूर फ़ुटपाथ के किनारे पर अपना बिस्तर बिछाकर चुपचाप लेट गयी। लेकिन सोयी नहीं। तब से लेटी तारों-भरे आकाश को ताक रही है।

और मैं जाग रहा हूँ, क्योंकि मोती मर गयी है और अब चम्पा की रक्षा करनेवाला कौन है सिवाय मेरे।

नौ सौ नवासीवीं रात

ख़्वाब की तस्वीर।

बुज़ुर्गों ने कुछ ग़लत नहीं कहा है कि समय सब कुछ भुला देता है। ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे चम्पा भी मोती के दुख को भूलती जा रही है। आज शाम को जब मैं काम से वापस आया, तो उसने एक धीमी-सी, पीली-सी मुस्कराहट के साथ जवाब दिया।

आज तो मैं उसके लिए एक उपहार लाया था, अपने और उसके सपनों के घर की तस्वीर। यह उसी गुड़िया-घर का चित्र था, जो हमने 'पंचवर्षीय योजना' वाली नुमायश में देखा था। हमारे सपनों का यह चित्र रंगीन था। लाल ईंटों का मकान, चिमनी में से काला-काला धुआँ उठता हुआ। आँगन में पेड़ के हरे-घने पत्ते, उनमें लाल फूल। दो बच्चियाँ, एक नीली फ्राक पहने, दूसरी नारंगी। एक के हाथ में पीले रंग का गुब्बारा, दूसरी के हाथ में ऊदे रंग का गुब्बारा।

लड़के के बदन पर सफ़ेद क़मीज़, ख़ाकी नेकर, काले चमकते हुए जूते, ज़मीन पर हरी-हरी घास।

—यह...यह...तस्वीर मैं रख लूँ ?

चम्पा ने कहा और मैंने देखा कि उसकी आँखें आशा और प्रसन्नता से चमक रही हैं। मैंने कहा—हाँ और क्या, तुम्हारे लिए ही तो लाया हूँ !

और उसकी बड़ी-बड़ी आँखों ने ख़ामोशी से मुझे धन्यवाद दिया। कितनी मुहब्बत थी उन आँखों में, कितनी कृतज्ञता थी ! उन आँखों में आशाएँ और आकांक्षाएँ भी थीं और वादे भी। और मेरे लिए तो उन आँखों में ज़िन्दगी का सबसे महत्वपूर्ण सन्देश था।

कितनी ही रातों के बाद आज चम्पा इतमीनान से गहरी नींद सो रही है। आख़िरी ट्राम भी गड़गड़ाती हुई गुज़र चुकी है। युनिवर्सिटी क्लॉक टावर दो बजा चुका है और अब मेरी आँखें भी बन्द हुई जा रही हैं।

नौ सौ नब्बेवीं रात

घर बना नहीं और गिर गया !

मुझे नहीं मालूम था कि एक रात में, बल्कि कुछ क्षणों में ज़िन्दगी ख़तम हो जायगी और जीवन की समस्त उमंगें, आकांक्षाएँ, जीवन के समस्त सुन्दर सपने और भविष्य की सारी इमारत शीशे के घरके समान एकाएक चकनाचूर हो जायगी। कल रात दो बजे के बाद जब मेरी आँख लगी, तो मैंने एक अजीब सपना देखा। पहले भी मैंने कई बार सपने में देखा था कि हमारा घर बन रहा है, सफ़ेदी हो रही है, लेकिन इस बार मैंने देखा कि घर तैयार हो गया है और हम उसमें उठ आये हैं। रसोई-घर में चम्पा बैठी भोजन बना रही है, आँगन में गुलमोहर

का पेड़ लाल-लाल फूलों से लदा हुआ है और हरी-हरी घास पर हमारे बच्चे, दो लड़कियाँ और एक लड़का, गेंदबल्ला खेल रहे हैं। और फिर एकाएक आकाश पर काले-काले बादल छा गये। बिजली कड़कने लगी और तूफ़ानी बादलों की गरज से हमारा छोटा-सा घर काँपने लगा। अँधेरा, आँधी और तूफ़ान। सारी ज़मीन हिल रही थी। और मैंने देखा, काले आकाश पर बिजली कौंदी और हमारे घर की ओर लपकी। बिजली की चमक में मैं देख रहा था, चम्पा रसोई-घर में खाना बना रही है और मेरे बच्चे पेड़ के नीचे खड़े हैं और वे सब इस आग की तलवार की मार में हैं। मैं चाहता था कि मैं चीख़ूँ—चम्पा! बाहर आ जाओ! बच्चो! पेड़ के नीचे से हट जाओ!

लेकिन एकाएक मैं गूँगा हो गया। मेरे मुँह से आवाज़ ही न निकली। एक शोला-सा भड़का, एक भीषण तड़ाका हुआ और फिर अँधेरा-सा छा गया और उस अँधेरे में हमारे घर के गिरने की आवाज़ ऐसी आयी, जैसे कोई कार दीवार से टकरायी हो और ब्रेक लगने की भयानक चीख़ के साथ कितने शीशे छन-छन करके टूट गये हों।...

मैं घबराकर उठा और सुबह की धुँधली रोशनी में देखा, सारे फ़ुटपाथ पर खलबली-सी मची है। एक बड़ी-सी, ख़ूबसूरत काली कार अपने अगले दो पहिये हवा में उठाये दीवार से लिपटी है। उसके पहिये अब तक घूम रहे हैं और घूमते हुए टायरों पर से गहरे लाल रंग की बूँदें टप-टप करके फ़ुटपाथ पर गिर रही हैं।

—ख़ून! ......चम्पा का ख़ून!

पागलों की तरह मैं उधर दौड़ा जहाँ उसकी लाश पड़ी थी। भारी, ज़ालिम मोटर ने उसके दुबले-पतले शरीर को पीसकर रख दिया था। लेकिन उसके चेहरे पर एक ख़राश भी न आयी थी और उसके ओंठों पर अब भी वही मुस्कराहट थी, जैसे वह मरी न हो, कोई बहुत ही सुन्दर,

बड़ा ही मधुर सपना देख रही हो और उसके दायें हाथ की मुट्ठी में तह किया हुआ एक कागज़ था, उस घर की रंगीन तस्वीर, जो बनने से पहले ही खँडहर हो गया था।

काला सूट पहने एक युवक, जो ह्विस्की के नशे में था, गाड़ी में से खींचकर निकाला गया। होश आते ही वह बड़बड़ाया—च...च .. च ! स्टीयरिंग व्हील न जाने कैसे एकदम टूट गया। हाँ ! —और फिर चम्पा की लाश को देखकर—ओह ! आई ऐम सारी ! मगर न जाने ये लोग फ़ुटपाथ पर क्यों सोते हैं ?

मेरे मन में आया कि उसे बताऊँ, लोग फ़ुटपाथ पर क्यों सोते हैं और क्यों चम्पा सबसे दूर फ़ुटपाथ के किनारे सो रही थी।
लेकिन उस समय मैं गूँगा हो गया था। एक शब्द भी मुँह से न निकला। अवाक् हो सिर्फ़ देखता और सुनता रहा।

पुलिसवाले ने कार के मालिक से उसका पता पूछा, तो उसने मालाबार हिल पर एक बिल्डिंग का नाम बताया।

—फ़्लैट का नम्बर ?—सिपाही ने नोटबुक में लिखते हुए पूछा।

और उस काले सूटवाले युवक ने जवाब दिया — सारी बिल्डिंग ही हमारी है।

और अब सरकारी ख़र्च पर चम्पा का क्रिया-कर्म हो चुका है। चिता के शोलों में वह राख हो चुकी है। अब रहा क्या है ? फ़ुटपाथ पर उसके ख़ून का एक धब्बा ! यही सोचते हुए मैं रद्दी अख़बार के कागज़ों को बिछाकर लेटने की तैयारी करता हूँ। इस अख़बार में एक बहुत ही अहम और दिलचस्प ख़बर छपी है। बम्बई सरकार ने फ़ुटपाथ पर सोनेवाले बेघरों के लिए एक घर बनाया है, जहाँ साढ़े तीन सौ आदमियों को सिर्फ़ पाँच आने फ़ी आदमी प्रतिदिन देने पर रात को सोने की जगह मिलेगी।

हज़ारवीं रात

हम हैं सिर्फ़ उन्नीस हज़ार नौ सौ निन्नानबे !

यह मेरी इस डायरी का शायद आख़िरी पन्ना है।

इस समय सुबह के चार बजे हैं। थोड़ी ही देर में उजाला हो जायगा। चम्पा की याद में दस रातें जागकर बिताने के बाद कल रात मैं पहली बार सो सका था। आँख लगी ही थी कि किसी ने मुझे झँझोड़कर उठा दिया।

चन्द पुलिस के सिपाही और चन्द समाज-सुधारक स्वयं-सेवक।

—हम फ़ुटपाथ पर रहनेवालों की गिनती कर रहे हैं। उनमें से एक ने कहा—तुम्हारा नाम ?

इस पूछ-ताछ के बीच उनमें से एक ने बताया कि अब बम्बई में सिर्फ़ बीस हज़ार लोग हैं, जो फ़ुटपाथ पर अपनी रातें बिताते हैं।

और मैंने कहा—नहीं, सिर्फ़ उन्नीस हज़ार नौ सौ निन्नानबे, इसलिए कि चम्पा तो मर चुकी है। सिर्फ़ उसके ख़ून का एक धब्बा रह गया है, सो वह भी एक छींटा पड़ते ही धुल जायगा। आप फ़िक्र न कीजिए।

उन्होंने मुझे इस तरह घूरकर देखा, मानो उन्हें सन्देह हो कि मेरा दिमाग़ चल गया है।

फिर उन्होंने मुझसे पूछा—तुम सरकारी घर में क्यों नहीं रहते, जहाँ बेघरों के सोने का प्रबन्ध किया गया है ? क्या तुम पाँच आने रोज़ ख़र्च नहीं कर सकते ?

मैंने कहा—मेरी आमदनी पैंतालीस रुपये मासिक है।

—फिर वहाँ क्यों नहीं जाते ? यहाँ क्यों सोते हो ?

क्यों ?......क्यों......क्यों ?

उनके सवालों की बौछार होती रही और मेरी ज़बान बन्द रही। अब मैं उन्हें क्या बताऊँ, कैसे बताऊँ। अगर बता भी पाऊँ, तो मेरी बात नहीं समझेंगे।

मैं उनसे कहना चाहता हूँ, आपने मेरे जैसे बेघर लोगों के लिए सरकारी घर बनाया है। चलिए, बीस हज़ार के लिए नहीं तो साढ़े तीन सौ के लिए तो सोने का इन्तज़ाम किया है। बहुत अच्छा किया, शुक्रिया! धन्यवाद! जय हिन्द! लेकिन सरकार! मैं उस घर में दूसरे लोगों के साथ सोना नहीं चाहता। मैं ठहरा घर-गृहस्थीवाला। मुझे, मेरी पत्नी और तीन बच्चों को तो एक अलग घर, कम-से-कम एक अलग फ़्लैट चाहिए। एक कमरा, एक रसोई-घर और आँगन में सुर्ख़ फ़ूलों से लदा हुआ गुलमोहर का एक पेड़!...लेकिन मैं उनसे कुछ भी न कह पाया और वे मुझे पागल समझकर चले गये और मैं सड़क पर गैस के हंडे के नीचे बैठा यह डायरी लिख रहा हूँ और पास ही फ़ुटपाथ पर चम्पा के ख़ून का धब्बा है, जो बहुत मद्धिम पड़ चुका है। आसमान पर बादल घिरने लगे हैं। जल्द बारिश शुरू हो जायगी और फिर यह ख़ून का धब्बा भी बम्बई के दामन से धुल जायगा। फिर क्या रहेगा?

यह है पत्थर की सेज पर बितायी हुई एक हज़ार रातों की दास्तान!

पुनश्च

मुझे पता नहीं, कौन लोग वे बड़ी-बड़ी पंचवर्षीय योजनाएँ और प्रोजेक्ट बनाते हैं। लेकिन अगर उनमें से किसी की नज़र से मेरी यह डायरी गुज़रे, तो उनसे मेरी इतनी अर्ज़ है कि बेघरों के लिए जो घर आप बना रहे हैं, यह बड़ा काम है, अच्छा काम है। लेकिन भगवान के लिए जल्दी कीजिए, अगर आप मुझे और मेरी चम्पा और हमारे बच्चों को बचाना चाहते हैं!

कार्टून

बम्बई में अगर किसी ने ये पाँच स्थान नहीं देखे, तो उसने कुछ नहीं देखा।

एक, गेट वे ऑफ़ इंडिया या भारत-द्वार, जो दरअसल दरवाज़ा नहीं है, सिर्फ़ एक मेहराब है, और अगर दरवाज़ा है भी, तो उसमें किवाड़ नहीं हैं, जो बन्द किये जा सकें। इसी खुले द्वार से विदेशी शासक भारत में प्रवेश करते रहे और जब तक यह द्वार खुला है, आज़ादी के बाद भी प्रवेश करते रहेंगे।

दो, मालाबार हिल, जो मालाबार में नहीं है, बम्बई शहर में है, और जो दो-ढाई सौ फ़ीट से ज़्यादा ऊँचा नहीं है, मगर जिसकी चोटी पर बारह महीने बर्फ़ मिलती है, मलाई की बर्फ़ यानी आइसक्रीम, जो 'नाज़ कैफ़े' में बैठकर खायी जाती है।

तीन, टावर ऑफ़ साइलेंस यानी शांति की मीनार, जो वास्तव में न मीनार है, न गुम्बद, बल्कि मालाबार हिल के एक हरे-भरे कोने

में दरख़्तों से छिपा हुआ पारसियों का क़ब्रिस्तान है, जहाँ लाशों को गिद्धों की ख़ुराक बनने के लिए छोड़ दिया जाता है।

चार, शेयर-बाज़ार और स्टाक-एक्सचेंज, जहाँ पूँजीपति-गिद्ध जीवित इन्सानों की बोटियाँ नोचते हैं, जहाँ मिनटों में करोड़ों का लेन-देन होता है, जहाँ टेलीफ़ोन पर आप रूई की दस लाख गठरियाँ ख़रीद सकते हैं या पन्द्रह लाख मन गेहूँ बेच सकते हैं, जहाँ अगले साल उगने वाली फ़सलें अभी से बेची और ख़रीदी जाती हैं और बड़ी तोंदवाले मारवाड़ी, पारसी, गुजराती और सिन्धी व्यवसायी और दलाल अपने एयरकंडीशड कमरों में बैठे-बैठे करोड़ों किसानों के ख़ून-पसीने का सौदा करते हैं।

पाँच, क्रिकेट क्लब ऑफ़ इंडिया, जिसे आमतौर पर सी० सी० आई० कहा जाता है।

मेरी कहानी का सम्बन्ध इसी क्रिकेट क्लब से है, इसलिए उसकी कुछ विशेषताओं की चर्चा थोड़े विस्तार के साथ ज़रूरी है। क्रिकेट क्लब में रोज़ कई तरह के खेल खेले जाते हैं, लेकिन क्रिकेट कभी नहीं खेला जाता। हाँ, हर शाम को यहाँ ब्रिज और रमी के कई सौ खिलाड़ी जमे रहते हैं। हर महीने लाखों की हार-जीत होती है। इस क्लब का जितना सम्बन्ध क्रिकेट से है, उतना ही इंडिया यानी भारत या हिन्दुस्तान से है। खाने को अँग्रेज़ी खाना मिलता है। पीने को अब (शराबबन्दी के कारण) ह्विस्की और शैम्पियन तो नहीं, लेकिन झूठी तस्कीन और तसल्ली के लिए फ्रूट कॉकटेल और जिंजर और बियर मिलती हैं। अँग्रेज़ी बैंड की अँग्रेज़ी धुनों पर अँग्रेज़ी बॉलरूम डांसिंग होती है। लम्बे बालोंवाले मर्द शार्क-स्किन के सूट और कटे बालोंवाली औरतें स्लेक्स पहने घूमती हैं। लिपस्टिक से रँगे हुए ओठ और रूज से सुर्ख़ किये हुए गाल नज़र आते हैं।

क्रिकेट क्लब में सब-कुछ होता है।

ताश।

बिलियर्ड।

स्थानीय स्कैंडल पर बातचीत।

रूमान (हल्की-फुल्की फ़्लर्टेशन से लेकर संगीन तक)।

रेस के दिन घोड़ों पर बेटिंग।

कारबारी बातचीत।

टी-पार्टियाँ।

रम्भा और वाल्ट्ज़...गर्ज़ सिवाय क्रिकेट के सब कुछ होता है।

इस क्रिकेट क्लब के सामने वाले फाटक के बाहर फ़ुटपाथ पर एक नौजवान भिखारिन रहती है कई महीने से। उसका नाम कोई नहीं जानता, लेकिन क्रिकेट-क्लब के सब मेम्बर उसे पहचानते हैं। वह कभी किसी से भीख नहीं माँगती, लेकिन फिर भी आने जानेवाले इकन्नी-दुअन्नी उसकी तरफ़ फेंक देते हैं।

यह भिखारिन कहाँ से आयी है, किसी को नहीं मालूम। रंग आबनूस की तरह काला है, इसलिए ख़याल किया जा सकता है कि दक्षिण भारत की रहनेवाली है। जो भाषा वह बोलती है, वह न हिन्दी है, न मराठी, न गुजराती, हालाँकि उसमें हर एक भाषा के दो-चार शब्द मौजूद हैं, यहाँ तक कि 'थैंकू साब', 'थैंकू मैडम', 'गुड नैट' जैसे शब्द टूटी-फूटी अँग्रेज़ी के भी बोल लेती है।

जिस दिन पहली बार यह भिखारिन क्रिकेट क्लब के सामनेवाले फ़ुटपाथ पर देखी गयी, उसी दिन कोकी कमलानी पहली बार क्लब में आयी थी। ज़ाहिरा तौर पर कोकी कमलानी और इस भिखारिन का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों में ज़मीन-आसमान का अंतर है, हालाँकि कहनेवाले यह भी कह सकते हैं कि आसमान और ज़मीन भी तो बिना

सम्बन्ध के नहीं हैं।

कोकी कमलानी का असल नाम कमला है। लेकिन उसके चचेरे भाई टू-टू टिकमदास ने (जो ऐतिहासिक दृष्टि से कमला का प्रथम प्रेमी था।) अमेरिका से वापसी पर प्रस्ताव किया कि उसका नाम कोकी रखा जाय, इसलिए कि (टू-टू के कथनानुसार) 'कोकी' अमेरिका में बिस्कुट को कहते हैं, जो कमला की तरह मीठा भी होता है और ख़स्ता भी और जिसको देखते ही उसको खाने के लिए दाँत किचकिचा उठते हैं। सो उस दिन से बम्बई की सोसायटी में कमला 'कोकी' कही जाने लगी।

हाँ, तो जिस दिन पहली बार क्रिकेट क्लब में कोकी आयी, उस दिन एक हलचल-सी मच गयी। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि कोकी ख़ूबसूरत है, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें हैं, बल्कि इसलिए कि कोकी पहली लड़की थी, जिसने क्लब में नंगी पीठवाली (बैकलेस) चोली पहन-कर आने का साहस किया था। यह और बात है कि बम्बई के समुद्र-तट पर कई सौ या शायद कई हज़ार वर्ष से मछली पकड़नेवाली स्त्रियाँ ऐसी चोलियाँ पहनती चली आ रही हैं। लेकिन वे कोई सोसायटी लेडीज़ थोड़े ही हैं और न उनके फ़ैशन 'ईव्स वीकली' में छपते हैं। इसलिए जब डांस के दौरान में ज़ाहिरा तौर पर लापरवाही से कोकी का पल्लू उसके कन्धे से ढलक गया, तो कई सौ आँखों ने देखा कि उसकी सुडौल, सुन्दर, गोरी और चिकनी खालवाली पीठ नंगी है। कई पुरुषों के मुँह से अनायास सीटियाँ बज गयीं और स्त्रियों ने 'बेशर्म कहीं की' कहकर अपने-अपने साथी पुरुषों की ओर घूरकर देखा और मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि कल वे भी 'ग्लेयर टेलर्स' के यहाँ इस 'मछलीमार' चोली का आर्डर दे देंगी।

और गंजे गोपाल ने (जो अपने दोस्तों में 'क्रिकेट क्लब का

फ़िलासफ़र' कहलाता है और अपने दुश्मनों में 'क्रिकेट क्लब का मसख़रा') कहा कि इन्सान तरक्की ज़रूर करता है, मगर एक दायरे में, अतएव आज अगर मछलीवालियों की नंगी पीठ का फ़ैशन चल पड़ा है, तो कोई कारण नहीं कि कल हम लोग ड्रेस-सूट और होनो लूलू बुशशर्ट उतारकर लँगोटी न बाँधने लगें, और परसों हम सब मर्द-औरत नागा साधुओं के अनुकरण में मादरज़ाद नंगे होकर न्यूडिस्ट कल्चर अपना लें।

हाँ, तो पहले दिन कोकी क्रिकेट क्लब आयी थी अपने चचेरे भाई टू-टू के साथ, लेकिन जब वह रात के बारह बजे विदा हुई, तो अमेरिकन आयल कम्पनीवाले मूबी गुप्ता के साथ, जिससे उसकी मुलाक़ात उसी शाम को हुई थी, पर जिसने अभी से उसे 'कोकी डार्लिंग' कहना शुरू किया था।

मूबी की कार क्लब के बाहरवाले फ़ुटपाथ के पास खड़ी थी, इसलिए वह कोकी की कमर में हाथ डाले हुए निकला, तो उन्होंने देखा कि वह भिखारिन पेड़ के नीचे खड़ी किसी ड्राइवर से हँस-हँसकर बातें कर रही है और ड्राइवर का हाथ उसकी कमर के गिर्द है और निर्लज्जता के इस खुले प्रदर्शन पर कोकी कोई आलोचना करने ही वाली थी कि भिखारिन ने बेपरवाही से अपने कंधे को एक हल्का-सा झटका दिया और उसकी मैली फटी हुई साड़ी का पल्लू गिर गया और उसकी नंगी पीठ की चमकीली काली खाल सड़क की रोशनी में जगमगा उठी।

और मूबी के कंधे से कंधा मिलाकर मोटर में बैठते हुए कोकी ने भिखारिन पर एक घृणा-भरी दृष्टि डालते हुए कहा—बेशर्म कहीं की! एक रेस्पेक्टेबल लोकेलटी में ऐसी आवारा औरतों को कौन आने देता है?

अगर कोकी की 'मछलीमार' चोली की नकल में क्लब में आनेवाली हर औरत की पीठ नंगी हो गयी, तो क्लबवालियों के अनुकरण में कोकी ने भी अगले दिन ताज के हेयर ड्रेसर के यहाँ जाकर पचास रुपये में अपने लम्बे काले बाल छँटवा लिये।

उसी शाम को जब वह क्लब पहुँची तो मूबी ने उसके कटे हुए बालों को देखकर कहा—थैंक गॉड! आख़िर तुमने उस दक़ियानूसी जूड़े और चोटी से छुटकारा पा लिया।

और कोकी, जो उस दिन ताज हेयर ड्रेसर के यहाँ बाल कटवाने में पूरे तीन घंटे ख़र्च करके आयी थी, बोली—बात यह है, मूबी डर्लिंग, कि लम्बे बालों की कंघी-चोटी में समय बहुत नष्ट होता था।

और गंजे गोपाल ने (जो अपने दोस्तों में 'क्रिकेट क्लब का फ़लासफ़र' और अपने दुश्मनों में 'क्लब का मसख़रा' मशहूर था।) कहा—तुम भी ठीक कहती हो, कोकी! मगर कंघी-चोटी से अब जो समय बचेगा, उसको कैसे काटोगी? मेरा सुझाव यह है कि मैडम पम्पाडोर से हर रोज़ अपने बालों को एक नये स्टाइल में सेट करवा लिया करो। उस बेचारी की आमदनी हो जाया करेगी और तुम्हारा वक्त कट जायगा।

उस शाम जब कोकी मूबी के दोस्त लू-लू-लाला काका के साथ डांस कर रही थी तो बाहर फ़ुटपाथ पर वह भिखारिन अपने लम्बे बाल खोले उनमें एक टूटी हुई कंघी कर रही थी और उसमें से चुन-चुनकर जूँ मार रही थी। इतने में रामू हज्जाम अपना बैग हाथ में लिये उधर से गुज़रा और भिखारिन के लम्बे बाल देखकर उसके मुँह में पानी भर आया। बोला—क्यों री, दो रुपये दूँगा इन बालों के, बोल मंजूर है?

भिखारिन ने मुँह मोड़कर कहा—तो इधर ला दो रुपये और काट ले, जितने जी चाहे।

और जब रुपये देकर रामू हज्जाम ने कैंची चलानी शुरू की, तो वह बोली—पर यह तो बता कि इस जूँ के छत्ते का करेगा क्या?

रामू ने कैंची चलाते हुए जवाब दिया—तू नहीं जानती! आजकल सब फिलिम स्टारों ने अपने बाल तो कटवा दिये हैं, पर जब सती-सावित्री या नूरजहाँ या अनारकली का पार्ट मिलता है, तो फिर बाज़ार से ऐसे बाल ख़रीदकर नकली चोटी लगाती हैं।

और उस रात को जब टू-टू और लू-लू और फ़िल्म स्टार रामकुमार और अहमद भाई मिलवाला, अहमद भाई पीर भाई आदि के झुरमुट में कोकी क्लब से बाहर निकली और रामकुमार की लम्बी-चौड़ी ब्यूक में बैठने लगी तो अहमद भाई ने कहा—राम, यू आर आलवेज़ लक्की!—और लूलू लाला-काका ने सिगरेट केस कोकी की तरफ़ बढ़ाते हुए कहा—एक सिगरेट तो और पी लो।—पर सिगरेट जलाते हुए न जाने क्यों कोकी की नज़र उधर पड़ गयी, जहाँ बालकटी भिखारिन फुटपाथ पर कई ड्राइवरों और बेयरों के साथ बैठी ठट्ठे मार-मारकर बीड़ी पी रही थी और कोकी को ऐसा लगा, जैसे वह उसको मुँह चिढ़ा रही हो। उसने पाँच सौ पचपन का पूरा सिगरेट सड़क पर फेंककर रामकुमार से कहा—कम ऑन, राम डार्लिंग, लेट्स गो!—और भिखारिन ने सड़क पर से वही सिगरेट उठाकर एक लम्बा कश लेते हुए अँगड़ाई ली और रघुवा ड्राइवर के बाजू में हल्की-सी चुटकी लेते हुए कहा—अपने को अब नींद आवे है।—सब उसका मतलब समझ गये और हँसते हुए अपने-अपने ठिकाने चल दिये और रघुवा (जिसका साहब शहर से बाहर गया हुआ था।) भिखारिन को मोटर में बिठाकर शहर घुमाने ले गया। और जब वर्ली

६

प्वाइन्ट पर समुद्र के किनारे रघुवा ने मोटर ठहरायी तो उन्होंने देखा, थोड़ी दूर पर एक लम्बी-चौड़ी ब्यूक भी खड़ी है।

दिन बीतते गये। कोकी ने रामकुमार की फ़िल्मी बातों से ऊबकर एक रेस कोर्स के बुकी से दोस्ती कर ली, जो रेस के दिन उसे दस के सौ-दो सौ रुपये बनानेवाली टिप देता था। और जब रघुवा का साहब वापस आ गया, तो भिखारिन ने भी रघुवा को धता बता दी और मोहम्मद बख्श ख़ानसामा से दोस्ती कर ली, जो रोज़ रात को अपने मालिक की आँख बचाकर अच्छे-अच्छे खाने ले आता था।

क्लब के अन्दर जहाँ कोकी के प्रेमियों की तादाद बढ़ती जा रही थी, वहाँ क्लब के बाहर फ़ुटपाथ पर भिखारिन के आशिकों की भी कोई कमी नहीं थी। बेयरे, ख़ानसामे, ड्राइवर सभी उसके दरबार में हाज़िर रहते थे। क्लब के अन्दर यदि कोकी चार आने प्वाइन्ट की रमी खेलती थी, तो भिखारिन अपने दोस्तों के साथ घंटों ताश खेलती रहती थी। जब से भिखारिन ने क्लब के सामनेवाले फ़ुटपाथ को अपना घर बनाया था, उसकी सज-धज में भी परिवर्तन होता जा रहा था। उसकी रंगत तो वैसी ही काली थी, पर चेहरे की कलौंच पर वह उस पाउडर की तह जमाये रखती थी, जिसका डिब्बा कालू बेयरे ने अपनी मालकिन के ड्रेसिंग-टेबुल से चुराकर ला दिया था। लिपस्टिक और रूज की जगह वह लाल ईंट का टुकड़ा घिसकर उसकी सुर्खी गालों और ओठों पर थोप लेती थी।

क्लब के अहाते में लाल फूलों का एक पेड़ था, जिसकी एक डाली दीवार के ऊपर से बाहर लटकी हुई थी। उसमें से वह एक फूल रोज़ तोड़कर अपने कटे हुए बालों में लगा लेती थी। वह ख़ूबसूरत नहीं थी, मगर उसके बदन में जवानी का खमीर था। और क्लब में आने-जानेवाली औरतों को देख-देखकर उसे बनाव-सिंगार के सब गुर

मालूम हो गये थे। बीड़ी वह इस शान से पीती थी कि क्या कोई सोसायटी-लेडी अपने सोने के सिगरेट होल्डर में लगे हुए पाँच सौ पचपन को पीती होगी।

इकतीस दिसम्बर की रात को क्लब में फ़ैन्सी-ड्रेस-डांस था। कोकी उस रात को मुगल शाहज़ादियों के लिबास में अनारकली बनकर जानेवाली थी। मगर मुश्किल यह थी कि उसके कटे हुए बालों को लम्बी मुग़लिया चोटी की शक्ल कैसे दी जाय। सो वह ताज के हेयर-ड्रेसर जैक के पास गयी और उससे सलाह ली। जैक ने कहा—फ़िकर करने की कोई बात नहीं। बालों के सिलसिले में हमारे यहाँ हर तरह का इन्तज़ाम हो सकता है।—यह कहकर वह अन्दर कमरे में गया और अपने असिस्टेन्ट से कहा—रामू बार्बर दस रुपये में जो बाल दे गया था, वह हैं या बिक गये?—मालूम हुआ कि वह बाल अभी तक नहीं बिके। काले चमकीले बालों की एक मोटी लट लेकर (जो यू डी कोलोन की सुगन्ध से महक रही थी।) जैक बाहर आया और कोकी से कहा—वेल मैडम, हियर यू आर, आप के बालों से एकदम मैच करेगा। एकदम वही रंग है।

कोकी ने भिखारिन के काले बालों पर हाथ फेरते हुए कहा—थैंक यू, जैक! यू आर ए डार्लिंग—और जैक ने सौ रुपये का बिल लिखते हुए कहा—यू आर वेलकम, कोकी।

और उस रात को जब कोकी अनारकली के लिबास में क्लब पहुँची, तो कितने ही मर्दों की ज़बान से अनायास निकला—ज़माना ये समझा कि हम पी के आये!

किसी ने कहा—कोकी डार्लिंग! तुम तो सचमुच मुग़ल शाहजादी मालूम होती हो।

किसी ने कहा—फ़िल्मिस्तानवालों को बीना राय की जगह कोकी

को अनारकली बनाना चाहिए था।

एक लम्बे-तगड़े साँवले नौजवान ने (जो मुग़ल शाहज़ादे के वेश में आया था।) कहा—अगर तुम अनारकली हो, तो मैं प्रिंस सलीम हूँ। वैसे मेरा नाम बहादुर सिंह है, पर सब मुझको 'को को' कहते हैं। अपनी रंगत भी को को जैसी ही है।

—तो आप हैं प्रिंस बहादुर सिंह आफ़ राजनगर?—कोकी ने ख़ुशी और हैरत से पूछा।

—और तुम हो कोकी, क्वीन आफ़ दि क्रिकेट क्लब!—प्रिंस ने जोश से हाथ मिलाते हुए कहा। और कोकी की नर्म हथेली ने उस गर्मजोशी में एक विशेष संदेश का अनुभव किया, एक पैग़ाम, एक इशारा, एक दावत। और इसके बाद प्रिंस बहादुर सिंह ने कहा—शैल वी डांस, अनारकली?—और जवाब का इन्तज़ार किये बिना ही कोकी की कमर में हाथ डालकर उसे डांस-फ़्लोर की ओर ले गया।

बाहर फ़ुटपाथ पर भिखारिन की महफ़िल लगी हुई थी। आज उसके चाहनेवालों में भी एक नये परवाने की वृद्धि हुई थी। राजा पहलवान, जो न किसी रियासत का राजा था, न पहलवानी करता था, बल्कि मदारी था और चौपाटी पर रीछ और बन्दर का तमाशा करके पेट पालता था। लेकिन था बड़ा हट्टा-कट्टा और फिर मदारियों की तरह बातें करने में बड़ा तेज़। थोड़ी ही देर में उसने भिखारिन के सब शैदाइयों को पीछे हटा दिया था।

—क्यों री, तेरा नाम क्या है?—राजा पहलवान ने पूछा।

भिखारिन ने बीड़ी के धुएँ का छल्ला बनाते हुए कहा—मेरा कोई नाम नहीं है, राजा! भला भिखारिन का भी कोई नाम होता है? (और फिर राजा की आँखों में आँखें डालकर) जिसका जो जी चाहता है, उसी नाम से पुकारता है।

—तो आज से मैं तुझे रानी के नाम से पुकारा करूँगा। समझी? राजा !...रानी !

अन्दर क्लब में डांस ज़ोरों पर चल रहा था। बैंडवाले कितनी ही अंग्रेज़ी धुनें बजा चुके थे। सब औरतों-मर्दों की ईर्ष्या-भरी नज़रें कोको और कोकी के जोड़े पर थीं, जो बराबर एक-दूसरे के साथ नाच रहे थे।

बैंडवालों के पास एक नयी धुन की फ़रमाइश पहुँची और उनके साज़ थर्रा उठे। रम्भा की ट्यून थी। शुरू होते ही नाचनेवालों के कूल्हे थिरकने लगे।

किसी ने फ़िल्मी धुन को पहचानकर गाना शुरू कर दिया—

आना मेरी जान, मेरी जान,

संडे के संडे

आना मेरी जान......

दूसरी आवाज़ों ने मिलकर कोरस बना दिया। लय पर तालियाँ बजने लगीं। बैंड और ज़ोर से बजने लगा। लय तेज़ होती गयी। कूल्हे और सीने उतनी ही तेज़ी से थिरकने लगे।

आना मेरी जान, मेरी जान, संडे के संडे...

क्लब-घर की सारी खिड़कियाँ खुली थीं। संगीत की लहरें खुली हुई खिड़कियों में से होती हुई, चारदीवारी को फलाँगती हुई फ़ुटपाथ पर फैल गयीं। वहाँ भी यह धुन जानी-पहचानी थी। आप-से-आप लय पर तालियाँ बजने लगीं। गीत के शब्द गुनगुनाये जाने लगे :-

आना मेरी जान, मेरी जान, संडे...

राजा ने भिखारिन की ओर आँख मारकर गुनगुनाना शुरू किया—आना मेरी जान, मेरी जान, संडे के संडे...

और फ़ुटपाथवालों की आवाज़ें भी कोरस में शामिल हो गयीं।

ड्राइवर, क्लीनर, बेयरे, ख़ानसामे, होटलों के वेटर, म्युनिसिपैलिटी

के भंगी, बेकार, भिखारी सब मिलकर गा रहे थे—

आना मेरी जान, मेरी जान, संडे के संडे...

और सब की निगाहें भिखारिन पर थीं।

और अन्दर क्लब में एक-के-बाद-एक भिन्न-भिन्न स्वर कोरस में शामिल होते गये।

आना मेरी जान, मेरी जान, संडे के संडे

आना मेरी जान......

लखपति, व्यापारी, सरकारी अफ़सर, फ़िल्म-स्टार, डाक्टर, बैरिस्टर, फ़ौज के अफ़सर, सब मिलकर गा रहे थे—

आना मेरी जान, मेरी जान, संडे के संडे......

और सब की निगाहें कोकी पर!

—नाचो, रानी, नाचो!—राजा ने भिखारिन को गुदगुदाते हुए कहा। और सब के आग्रह पर वह बीड़ी फेंककर खड़ी हो गयी। और क्लब के बैंड की धुन पर उसके कूल्हों ने भी उसी तरह थिरकना शुरू कर दिया, जैसे कोकी के कूल्हे डांस-फ़्लोर पर थिरक रहे थे।

—शाबाश, रानी, शाबाश!—सब तालियाँ बजाकर शाबाशी देने लगे।

आना मेरी जान, मेरी जान...

क्लब के अन्दर और बाहर एक ही धुन थी, एक ही ताल, एक ही लय। थिरकते हुए कूल्हों में, मटकती आँखों में, उभरे और उभारे हुए सीनों में वही हविस थी।

क्लब के बैंड की धुन पर भिखारिन नाच रही थी।

फ़ुटपाथवालों की तालियों की लय पर लखपति और उनकी सोसायटी लेडीज़ नाच रही थीं और किसी को मालूम नहीं था कि वे किस धुन में नाच रहे हैं और उनके लड़खड़ाते कदम उन्हें किधर ले जा

रहे हैं। अन्दर और बाहर बस एक ही धुन थी, एक ही इच्छा, एक ही पाशविक भूख, एक ही कामुकता की जलन...

आना मेरी जान...
मेरी जान...
मेरी जान...
मेरी जान...
संडे के संडे...
संडे के संडे...
आना मेरी जान...
आना...
आना...
मेरी जान...
मेरी जान...
मेरी...
मेरी...
जान...
जान...
मेरी, मेरी, मेरी, मेरी, मेरी, मेरी, मेरी, मेरी...
जान, जान, जान, जान, जान, जान, जान, जान ..
आना मेरी जान...
मेरी जान आना...
आना संडे-के-संडे...
संडे मेरी जान...
जान आना मेरी...
संडे...

लाल और पीला

संडे, संडे, संडे, संडे, संडे, संडे...

नये साल के बारह बजे और इस ख़ुशी में क्लब की रोशनियाँ बुझा दी गयीं, पर बैंड बजता रहा...

मेरी जान, मेरी जान, मेरी जान !

फ़ुटपाथ पर राजा ने भिखारिन को गले लगाते हुए कहा—क्यों, मेरी जान, रानी बनना मंजूर है ?

और अन्दर क्लब के अँधेरे में कोकी ने जवाब दिया—यस, डार्लिंग, यस !

और जब क्लब की बत्तियाँ दोबारा जलीं, तो सबने देखा कि कोको और कोकी दोनों ग़ायब हैं।

चन्द दिनों बाद क्लब के कुछ मेम्बर लाउंज़ में बैठे गप-शप कर रहे थे।

एक ने कहा—यार, जब से वह कोको हमारी कोकी को ले भागा, क्लब में रौनक नहीं रही।

दूसरे ने कहा—और तो और, वह नमकीन-सी भिखारिन, जो सामने के फ़ुटपाथ पर बैठी रहती थी, वह भी किसी के साथ भाग गयी।

तीसरे ने कहा—तुम भी कमाल करते हो। कहाँ से कहाँ पहुँच गये ! बात हो रही थी अपनी कोकी की, जो क्वीन ऑफ़ दि क्रिकेट क्लब थी, और तुम ज़िक्र ले बैठे उस गन्दी, आवारा भिखारिन का। भला कोकी का उस भिखारिन से क्या सम्बन्ध है ?

और गंजे गोपाल ने (जो अपने दोस्तों में 'क्रिकेट क्लब का फ़लासफ़र' और अपने दुश्मनों में 'क्रिकेट क्लब का मसख़रा' कहलाता है।) कहा—दोनों में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। अगर हमारी कोकी क्वीन ऑफ़ दि क्रिकेट क्लब थी, तो वह भिखारिन उसकी तस्वीर थी।

—वह कुरूप भिखारिन ? ...और तुम उसे कोकी की तस्वीर कहते हो ?

—अच्छा, भाई—गंजे गोपाल ने उठते हुए कहा—तस्वीर न सही, पर वह क्वीन ऑफ़ दि क्रिकेट क्लब की कार्टून ज़रूर थी ।

ब्वाय

"ब्वाय !"

"यस सर !"

"डिनर फ़ॉर टू ।"

"यस सर !"

"वन बड़ा पेग ह्विस्की एंड सोडा !"

"यस सर !"

"ब्वाय !"

"यस सर !"

"चिकेन एला कीफ़ ।"

"यस सर !"

"तन्दूरी मुर्ग़ ।"

"यस सर !"

"टोमेटो जूस, कोल्ड मीट, रशन सैलड, आइसक्रीम, काफ़ी ।"

"यस सर !"

"ब्वाय !"

"यस सर !"

"ब्वाय !" "ब्वाय !" "ब्वाय !"

"यस सर !" "यस सर ?" "यस सर !"

अशोक को ख्वाब में भी ब्वाय की प्रतिध्वनि ही सुनायी देती थी और उसके दूसरे साथियों का बयान था कि वह सोते-सोते अक्सर "यस सर" बड़बड़ाया करता था।

वह नयी दिल्ली के 'कैफ़े पेरिस' में दो बरस से वेटर का काम कर रहा था। वेतन केवल बीस रुपये, मगर टिप मिलाकर पचास की औसत पड़ जाती थी और फिर खाना मुफ़्त। बेकारी और मँहगाई के ज़माने में बी० ए० पास लड़कों को भी इतना कहाँ मिलता है। और फिर अशोक तो सिर्फ़ मैट्रिक ही पास था। यह बात और है कि कभी वह सोचा करता था कि कालेज में पढ़ेगा, बड़ा सरकारी अफ़सर बनेगा, किसी सुन्दर लड़की से शादी करेगा, बँगले में रहेगा......मगर जीवन के सब सपने कब पूरे होते हैं। और फिर आजकल बी० ए० पास करने से भी क्या होता है ? उसका एक मित्र निर्मल जिसने बी० ए० किया था, एक दफ़्तर में चपरासी ही तो था। तनख़्वाह पचास रुपये महीना खुश्क, जिसमें से पाँच रुपये क्वार्टर के देता था। खाने का ख़र्च अपनी जेब से। उसके मुकाबले में अशोक काफ़ी ख़ुशकिस्मत था कि खाना मुफ़्त; रात को होटल बन्द होने के बाद किसी मेज़ के नीचे कोई मैला मेज़पोश ओढ़कर सो जाता था और महीने की पहली को बीस-पच्चीस रुपये अपने घर मनीआर्डर कर देता था।

'कैफ़े पेरिस' के काम में और भी कई फ़ायदे थे। पहनने को यूनीफ़ार्म मुफ़्त मिलती थी—धोबी का धुला सफ़ेद कोट, सफ़ेद पतलून,

सफ़ेद जूते। कैफ़े के मालिक को इस बात पर बड़ा नाज़ था कि उसके वेटर हमेशा उजले कपड़े पहने नज़र आते थे। मगर अशोक को कभी-कभी ऐसा महसूस होता था जैसे ये सफ़ेद कपड़े उसके व्यक्तित्व और आत्म सम्मान का कफ़न हैं। उनको पहनते ही उसकी अपनी हस्ती मर जाती थी। अब वह मैट्रिक तक पढ़ा हुआ, बाइस बरस का जवान, एक सम्राट का हमनाम नहीं है, बल्कि 'कैफ़े पेरिस' का एक गुमनाम, बल्कि बेनाम वेटर है जिसको सिर्फ़ 'ब्वाय' कहकर पुकारा जा सकता है।

ब्वाय! ब्वाय! ब्वाय!

दिन भर उसके आत्म सम्मान पर इस नाम के तमाचे पड़ते थे

बारीक, ज़नाना, नख़रीली आवाज़ में "ब्वाय!"

मोटी, मर्दाना, रोबदार आवाज़ में "ब्वाय!"

गाती हुई आवाज़ में "ब्वाय!"

गुनगुनाती हुई आवाज़ में "ब्वाय!"

नाचती हुई आवाज़ में "ब्वाय! ब्वाय!! ब्वाय!!!

गुर्राती हुई गुस्सैल आवाज़ में "ब्वाय!"

शर्मीली लजायी हुई आवाज़ में "ब्वाय!"

और उसके पास इन सब पुकारों के लिए केवल एक जवाब था—

"यस सर!"

"यस सर!"

"यस सर!"

"यस सर!"

दिन भर में अशोक बारह घंटे की ड्यूटी करता था। इस अर्से में उसे किचन से डाइनिंग रूम तक कम-से-कम दो सौ चक्कर लगाने पड़ते थे। अशोक ने एक बार हिसाब लगाया था कि वह दिन भर में कम-से-

कम दस मील चलता है—वह भी हर बार एक भारी ट्रे को हाथ में उठाये भीड़ के समुद्र में से मेज़ों के द्वीपों के गिर्द घूमता हुआ ! और ज़रा भी चाल धीमी हुई, ज़रा भी आर्डर के लाने में देर हुई कि "ब्वाय !" का तमाचा पड़ा।

"ब्वाय ! ब्वाय ! ब्वाय !"

"ब्वाय, कितनी देर लगाते हो तुम ?"

"ब्वाय, आर यू स्लीपिंग ?"

"ब्वाय, पानी लाओ जल्दी !"

"ब्वाय, चिकन रोस्ट और पिशावरी नान, मगर एकदम जल्दी !"

"ब्वाय, लागर बियर, एंड मेक इट क्विक !"

"ब्वाय, चिकन स्ट्रागोनाफ़ विद मैश्ड पोटेटोज़। बट आई एम इन ए हरी !"

"यस सर ! यस सर !! यस सर !!!"

"चिकन एला कीफ़।"

"मटन कटलेस।"

"तन्दूरी मुर्ग़।"

"रशन सैलड।"

"टोमेटो जूस।"

"ह्विस्की, बियर, शैम्पेन !"

"नर्गिसी कोफ़्ते।"

"आ इन वन आइसक्रीम।"

"स्ट्राबरी एंड क्रीम।"

"चाकलेट संडे।"

"फ्रूट सैलड।"

अशोक लगभग दो सौ किस्म के खानों के नाम से परिचित था,

उनकी शक्ल-सूरत रंग-बू से परिचित था। मगर उसको दो वक्त दाल-रोटी और गोभी की तरकारी ही मिलती थी। जब वह ट्रे में रखकर कोई महकती हुई ख़ुशबूदार 'डिश' ले जाता, तो उसका कितना जी चाहता कि एक बार, सिर्फ़ एक बार उस न्यामत को ख़ुद भी चख ले। भुने हुए मुर्ग़ की एक टाँग या आइसक्रीम का एक चम्मच या केक का एक टुकड़ा...मगर वह जानता था कि अगर भूले से भी ऐसी कोई हरकत की तो नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा। जब बचा हुआ खाना वापस जाता तो वेटर अक्सर मालिक की नज़र बचाकर उसमें से दो-चार कौर चख लेते थे। एक बार अशोक भी एक फ़्रूट सैलड की आधी बची हुई प्लेट देखकर ललचा गया और जल्दी-जल्दी उसमें से चार खूबानियाँ और सेब के टुकड़े उड़ा गया। मगर उसके फ़ौरन बाद ही जब वह एक ग्राहक की मेज़ पर से जूठे बर्तन उठाने गया तो देखा कि वह फ़्रूट सैलड खाता जा रहा है और खूबानियों की गुठलियाँ और सेब के बीज उसी प्लेट में थूकता जा रहा है। और यह देखकर अशोक का जी मतला उठा था और उसे भागकर गुसलखाने में क़ै करनी पड़ी थी। इसके बाद जूठा खाने को कभी उसका जी नहीं चाहा और सौ खानों की नफ़ीस ख़ुशबूएँ उसके नथनों को गुदगुदाती रहतीं या खानों की रंगीन सजावट उसकी आँखों को ललचाती रहती और उसके पेट की आँतें सिकुड़कर उस भूख की याद दिलाती रहतीं जो बेमज़ा गोभी की तरकारी से कभी न मिटती थी—मगर अशोक अपना काम किये जाता—एक मशीन की तरह जो पहियों पर चलती हो, जिसके यन्त्रवत हाथों में खाने की ट्रे हो और जो ग्रामोफ़ोन के टूटे हुए रिकार्ड की तरह एक ही वाक्य दोहराती हो—

"यस सर ! यस सर ! यस सर !"

रेस्टोरां सुबह आठ बजे से लेकर रात के बारह बजे तक भरा रहता

था। इस अर्से में सिर्फ़ लंच से पहले कोई एक घंटे के लिए भीड़ कम होती थी और उस समय सब वेटर बारी-बारी थोड़ी देर के लिए सुस्ता लेते थे। एक बार गर्मियों के दिन थे। रेस्टोरां एअरकंडीशंड था, मगर किचन के पास पैन्ट्री में, जहाँ वेटर सुस्ताया करते थे, बला की गर्मी थी। अशोक पसीने में नहा रहा था। उसने शीशे के किवाड़ों में से झाँककर देखा, जिस कोने की मेज़ें उसके सुपुर्द थीं, वहाँ कोई ग्राहक नहीं था। सो उसने सोचा थोड़ी देर के लिए कोट उतारकर पसीना सुखा लूँ। मगर उसने अभी कोट उतारा ही था कि हाल में से गूँजती हुई शीशे के किवाड़ों में से धीमी होती हुई "ब्वाय !" की आवाज़ आयी।

क्या मुसीबत है, अशोक ने सोचा और बददिली से कोट पहनना शुरू किया। अभी बटन लगा रहा था कि दो बार और "ब्वाय" की आवाज़ उसको झँझोड़ने के लिए वहाँ तक पहुँची।

दरवाज़ा खोलकर वह रेस्टोरां में दाख़िल हुआ ही था कि एक दहाड़ती-चिंघाड़ती हुई आवाज़ गूँजी : "ब्वाय !"

उसने कदम तेज़ किये, मगर उसे पूरे हाल को तय करना था और फ़र्श डांस के लिए चिकना किया गया था। अगर दौड़ा तो मुँह के बल गिर पड़ेगा।

"ब्वाय ! ब्वाय !! ब्वाय !!!"

सिल्क की बुशशर्ट—जिस पर शेर और हाथी और अजगरों की तसवीरें छपी हुई थीं—पहने एक मोटा-सा आदमी बेतहाशा चिल्ला रहा था जैसे उसे दौरा पड़ गया हो।

"ब्वाय ! ब्वाय !! ब्वाय !!!" और अशोक को ऐसा लग रहा था जैसे उसके मुँह पर बराबर तमाचे पड़ रहे हो।

"यस सर !" उसने दीनता से 'मीनू' पेश करते हुए कहा।

मगर एक और तमाचा उसके मुँह पर पड़ा—"तुम लोग सोते रहते हो क्या ? मुझे तुम्हारी रिपोर्ट करनी पड़ेगी..."

और उस शाम को मैनेजर ने अशोक को बताया था कि उस पर पाँच रुपये जुर्माना कर दिया गया है, जो उसके वेतन में से काट लिया जायगा।

फिर कभी उसने कोट उतारकर सुस्ताने की हिम्मत नहीं की।

उसके हाथ-पाँव और ज़बान पर 'कैफ़े पेरिस' के मालिक का अधिकार था, मगर उसकी आँखें, उसके कान, उसका दिमाग़—वे आज़ाद थे। अशोक वह हरकतें देखता जो एक वेटर को नहीं देखनी चाहिएँ, वह बातें सुनता जो एक वेटर को नहीं सुननी चाहिएँ और वह बातें सोचता जो एक वेटर को नहीं सोचनी चाहिएँ।

वह देखता काले बाज़ार वाले मोटे सेठों को सरकारी अफ़सरों की ह्निस्की और शैम्पेन के बिल अदा करते; पेशे की रंडियों को सफ़ेद साड़ी या कोई और सादा लिबास पहने घरेलू पोज़ में अपने दोस्तों के साथ बैठकर काफ़ी पीते हुए; सभ्य घरानों की लड़कियों को लिपस्टिक और लाली पोते, चटखते हुए रंगों की साड़ियाँ या सिल्क पहने कॉलेज के लड़कों या फ़ौजी अफ़सरों के साथ शैरी पीकर रंडियों के अन्दाज़ में ठट्ठे मारते हुए; खद्दरपोश लीडरों को भूखी आँखों से एंग्लो-इंडियन टाइपिस्ट लड़कियों को घूरते हुए; पार्लियामेंट के सदस्यों को इधर-उधर देखकर चुपके से ह्विस्की का आर्डर देते हुए; शार्कस्किन का सूट पहने मोटे अधेड़ ठेकेदारों को दुबली-पतली-सिमटी हुई लड़कियों के साथ नाचते हुए...

वह सुनता, परमिट और लाइसेंस के लिए बम्बई के व्यापारियों और सरकारी अफ़सरों के बीच रिश्वत तय करने की बातें; नौजवान विद्यार्थियों और उनकी गर्ल फ्रेंड्स के रूमान भरे शिकवे, शिकायतें

और वादे; नयी दिल्ली की ऊँची सोसायटी के सारे स्कैंडल्स; साहित्यिकों और कवियोंके वाद-विवाद; पत्रकारों और रिपोर्टरों की राजनीतिक गपशप...

और वह सोचता, यह शानदार 'कैफ़े पेरिस', उसकी नकली संगमरमर की दीवारें, दीवारों पर बनी अधनंगी स्त्रियों के चित्र, नकली मख़मल से मढ़े सोफ़े, विलायती नाच की धुनें बजाने वाला बैंड, यह खद्दरपोश ह्विस्की पीने वाले, यह भूखी आँखोंवाले ब्रह्मचारी, यह मोटे-मोटे ठेकेदार, यह दुबले-पतले रोगी कवि और साहित्यिक और पत्रकार, यह शैम्पेन की बोतलें, यह तन्दूरी मुर्ग़, यह रशन सैलड और अमेरिकन कॉकटेल, यह चुस्त ब्लाउज़ पहने हुए औरतें, यह आँखों में देखने का आमंत्रण लिये हुए लड़कियाँ यह खाना, यह पीना, यह क़हक़हे, यह दौलत, यह हुस्न, यह शानोशौकत, यह ऐश-आराम—यह ज़िन्दगी उसके इतने करीब होते हुए भी उससे कितनी दूर है! वह इस सागर में डूबा हुआ है, मगर फिर भी प्यासा है। और कभी-कभी जब दिन भर चलते-चलते उसके पाँव सुन्न हो जाते और उसका सिर घूमने लगता और कैफ़े सिगरेट के धुएँ और ह्विस्की और भुने हुए मुर्ग़ों और पाउडर और पसीने की बू से भर जाता—और जाड़े के मौसम में भी सैकड़ों औरतों और मर्दों के गर्म-गर्म साँसों से एक अजीब गर्मी और घुटन पैदा हो जाती—उस समय अशोक को ऐसा अनुभव होता जैसे यह सारा रेस्टोरां एक तन्दूरी मुर्ग़ है और वह ख़ुद उस तन्दूरी मुर्ग़ के पेट में घुसा हुआ है मगर भूखा है और यह मुर्ग़ तन्दूर की आग में भूना जा रहा है और साथ-साथ वह ख़ुद भी भुनता जा रहा है और एक पल के लिए उसको यह डर लगता कि कोई लाल चुकंदर अमेरिकन या मोटा सिंधी ठेकेदार उसकी टाँग पकड़कर उसकी हड्डियाँ चबाना न शुरू कर दे। मगर फिर...

"ब्वाय !" कोई ग्राहक आवाज़ देता।

अशोक अपनी कल्पना के जाल से निकलकर असलियत की दुनिया में आ जाता, मगर उसके दिमाग़ में एक धुँधला-सा प्रश्न चिह्न और उसके दिल में एक अव्यक्त-सी चुभन रह जाती। ऐसा क्यों है ? ऐसा क्यों नहीं है ?

और फिर एक दिन अशोक को 'कैफ़े पेरिस' छोड़ना पड़ा। कैफ़े तीन महीने के लिए बन्द किया जा रहा था ताकि उसको तोड़ फोड़कर उसकी नयी सजावट नये ढंग से की जाय। चार साल पहले 'कैफ़े पेरिस' को लदन के एक मशहूर रेस्टोरां की नकल में सजाया गया था। अब कहा जाता था कि उसे नये सिरे से अमेरिकन ढंग पर न्यूयार्क के एक होटल की नकल में सजाया जायगा।

बड़े आदमियों की ये सब बातें अशोक की समझ के बाहर थीं। वह तो इतना जानता था कि तीन महीने तक वह बेकार है, इसलिए वह अपनी माँ को मिलने घर जा सकता है और यह कि उसकी जेब में दो बरस के बचाये हुए सत्तर रुपये हैं और वह सोच रहा था कि टिप मिले बिना इस रकम में तीन महीने कैसे गुज़रेंगे ? फिर उसकी नज़र कनाट प्लेस के दूसरे मशहूर रेस्टोरां 'माई लार्ड' के साइनबोर्ड पर पड़ी और उसने सोचा, क्यों न वहाँ पूछ लिया जाय ? मुमकिन है, किसी वेटर की जगह ख़ाली हो।

दरवाज़े पर ही 'नो वेकेन्सी' का बोर्ड लगा था और वर्दी पहने हुए चौकीदार ने भी इस बात की पुष्टि कर दी कि 'माई लार्ड' में किसी वेटर की जगह ख़ाली नहीं है। वक्त काटने के लिए अशोक शीशे की दीवारों के पीछे लगी उन खिड़कियों को देखने लगा जिनमें राहगीरों को लुभाने के लिए हर तरह के खाने सजे हुए थे—भुने हुए मुर्ग़, सासेज़ के हार, कटलेस और कबाब, वेनीला आइसक्रीम का सफ़ेद पहाड़

और उसकी चोटी पर लाल-लाल चेरी लगी हुई, हर किस्म के फल, टमाटर, पहाड़ी मिर्चें ! हर चीज़ इतनी सुन्दरता से सजी हुई कि देखनेवाले के मुँह में पानी भर आये ।

एकाएक अशोक के दिमाग़ में एक घंटी-सी बजी । इतने दिन मैंने 'कैफ़े पेरिस' में ये बढ़िया खाने दूसरों को खिलाये, मगर मुझे ख़ुद यह भी नहीं मालूम कि चिकन अलाकीफ़ और स्ट्राबरी और क्रीम का मज़ा कैसा होता है ? एक बार, एक बार क्यों न मैं भी ये चीज़ें खाकर देखूँ ! मेरी जेब में सत्तर रुपये हैं – ज़्यादा-से-ज़्यादा बिल दस-बारह रुपये आयगा, मगर यह अनुभव जीवन भर याद तो रहेगा !

और अपनी जेब में हाथ डालकर नोटों की हर्षदायक करकराहट अनुभव करते हुए वह 'माई लार्ड' रेस्टोरां में दाख़िल हो गया । अभी लंच की भीड़ शुरू नहीं हुई थी । हाल में तीन-चार मेज़ों पर कुछ लोग बैठे बियर पी रहे थे । बाकी मेज़ें अभी तक ख़ाली थीं । अशोक को अपने अनुभव से मालूम था कि इस समय वेटर अधिकतर बारी-बारी थोड़ी देर अपनी टाँगों को आराम देने के लिए बैठ जाते हैं ताकि लंच के हंगामे के लिए ताज़ादम हो जायँ ।

वह खिड़की के करीब एक कुर्सी पर बैठ गया । सोचा, वेटर को बुलाने से पहले 'मीनू' पर छपी फ़ेहरिस्त देखकर अपने लंच का आर्डर तय कर लेना चाहिए ।

पहले तो मैं मँगाऊँगा क्रीम सूप, उसमें से हमेशा बड़ी अच्छी ख़ुशबू आती है । ज़रूर मज़ेदार भी होता होगा ।

फिर चिकन स्ट्रागोनाफ़ । नहीं नहीं, चिकन अलाकीफ़—देखूँ तो आज इस अजीब नाम का मुर्ग़ स्वाद में कैसा होता है । सुना है, यह कोई रूसी डिश' है, तो इसके साथ रशन सैलड भी होना चाहिए ।

और उसके बाद अमेरिकन फ्रूट कॉकटेल । यह भी अच्छा रहा,

पहले रूसी फिर अमेरिकन...अब वेटर को बुला लेना चाहिए।

"ब्वाय !" वह चिल्लाया, और उसकी आवाज़ में उन हज़ारों आवाज़ों का निचोड़ था जो उसको बुलाने के लिए दी गयी थीं।

और जब कोई वेटर उसके पुकारने पर नहीं आया तो वह फिर चिल्लाया :

"ब्वाय !"

रोबदार क्रोधभरी आवाज़, जैसी वह अक्सर सुनता था जब कभी उसे पहली पुकार पर मेज़ तक पहुँचने में देर हो जाती थी।

"ब्वाय ! ब्वाय !! ब्वाय !!!"

वह बेतहाशा चिल्लाया जैसे एकाएक उसे क्रोध का दौरा पड़ गया हो।

"ब्वाय ! ब्वाय !! ब्वाय !!!"

जैसे वह उस अजगर छाप बुशशर्ट वाले की अपमानजनक चीख़ों का बदला ले रहा हो।

"ब्वाय !"

सारा रेस्टोरां उसकी चीख़ों से गूँज उठा। दूसरी ओर बैठे लोग इधर मुड़कर देखने लगे।

"ब्वाय !"

एक बूढ़ा दाढ़ीवाला वेटर अपनी कमर के पटके को ठीक करता हुआ उसकी तरफ़ लपका हुआ आ रहा था। अशोक की "ब्वाय !" की पुकार का तमाचा एक झुर्रियों भरे गाल पर पड़ा था।

"यस सर !" करीब आकर हाँपते हुए वह बोला—"यस सर !!"

और उसकी बुझी हुई, मुरझायी हुई, गिड़गिड़ाती हुई आवाज़ में उन हज़ारों "यस सर !" "यस सर !" "यस सर !" का निचोड़ था जो अशोक ने अपने कैफ़े के ग्राहकों से सिर झुकाकर कहे थे।

एक क्षण के लिए उसने बूढ़े वेटर की दीनता भरी आँखों में देखा और न जाने क्यों उसे उन आँखों में अपना ही चेहरा नज़र आया।

"यस सर ! यस सर !!" बूढ़े ने फिर दीनता से दोहराया और इस "यस सर" में अशोक को अपनी ही आवाज़ की गूँज सुनायी दी।

और अशोक के दिमाग़ में उसकी अपनी ज़िन्दगी के दो साल घूम रहे थे, सुनी हुई आवाज़ें गूँज रही थीं।

"ब्वाय !"

"यस सर !"

"डिनर फ़ार टू।"

"यस सर !"

"वन बड़ा पेग व्हिस्की एंड सोडा।"

"यस सर !"

"चिकन अलाकीफ़।"

"यस सर !"

"ब्वाय, कितनी देर लगाते हो तुम ?

"ब्वाय, आर यू स्लीपिंग ?"

"ब्वाय, पानी लाओ—जल्दी—जल्दी !"

"तुम लोग सोते रहते हो क्या ! मुझे तुम्हारी रिपोर्ट करनी पड़ेगी......"

"यस सर ! यस सर ! यस सर !"

"माफ़ करना बड़े मियाँ", उसने कुर्सी से उठते हुए कहा, और बूढ़े वेटर को हैरान छोड़कर वह रेस्टोरां के समुद्र में खाली मेज़ों के द्वीपों के बीच में से रास्ता बनाता हुआ दरवाज़े से बाहर निकल गया। मगर जब बूढ़े ने मेज़ पर से 'मीनू' कार्ड उठाया तो देखा, वहाँ एक रुपया टिप पड़ा हुआ है—और उसने सोचा, अजीब-अजीब लोग इस रेस्टोरां में आते हैं......

———

मैं और वह

बारिश दिन भर बरसते-बरसते थक-सी गयी थी। मैं दफ़्तर से निकला तो सड़क पर एक-एक इंच पानी भरा था जो बहुत जल्द फटे हुए तले में से होता हुआ जूते के अन्दर पहुँच गया। ग़नीमत यही था कि पानी ऊपर से न पड़ रहा था, यद्यपि काले-काले बादल अब भी छाये हुए थे। एक हाथ में थैले को और दूसरे में छतरी को सम्हाले हुए मैंने जल्दी-जल्दी बस-स्टैण्ड की तरफ़ क़दम बढ़ाये कि शायद कोई माहिम जानेवाली बस मिल जाय।

छतरी! जिस चीज़ को मैं छतरी कह रहा हूँ, वह किसी ज़माने में सचमुच छतरी ही थी। अब भी दूर से छतरी मालूम होती है क्योंकि लिपटे हुए काले कपड़े में से एक टूटी हुई मूँठ बाहर निकली हुई है। हाँ, खुलने पर यह छतरी छलनी बन जाती है क्योंकि बारिश का पानी इसमें कई जगह से बूँद-बूँद करके टपकता है। मगर सिर्फ़ पानी। साफ़-सुथरा छना हुआ पानी! कोई कचरा-वचरा नहीं। यानी यह छतरी भी

है और छलनी भी। पेड़ों के पत्ते, पेड़ों पर बैठी हुई चिड़ियों की बीट, दूसरी-तीसरी मंज़िल की खुली खिड़की से फेंके हुए तरकारी के छिलके, सिगरेट या इस किस्म का कोई कूड़ा-कबाड़ा कभी इस छतरी के सूराख़ों में से गुज़र कर नहीं जा सकता था। इसलिए जब बारिश के दिन नहीं भी होते, मैं बम्बई की बाज़ सड़कों पर गुज़रते हुए हमेशा यह छतरी खोलकर सिर के ऊपर कर लेता हूँ कि 'भगवान बचाये हर संकट से' जो आसमान की तरफ़ से इन्सान के सिर पर आ पड़ता है। हाँ, बारिश की और बात है। तो हर चीज़ दुनिया में हर काम तो दे नहीं सकती। यह क्या ज़रूरी है कि जो छतरी कचरे को रोकने के लिए बनायी गयी हो, वह बारिश में भी काम आये। इसके अलावा सुना है कि समुद्र में से जब भाप उठती है तो कभी-कभी मछलियाँ भी बादलों में खिंची चली जाती हैं और फिर पानी के साथ मछलियों की बारिश भी होती है। अगर ऐसी दुर्घटना कभी हुई तो मेरी छतरी आड़े वक्त ज़रूर काम आयेगी क्योंकि छोटी-से-छोटी मछली भी इसके बड़े-से-बड़े सूराख़ में से नहीं गुज़र सकती।

आप कहेंगे इस छोटी-सी कहानी में एक पुरानी टूटी हुई छतरी का इतना लम्बा ज़िक्र क्यों? तो बात यह है कि इस कहानी की हीरोइन यह छतरी ही है या हीरो कह लीजिए क्योंकि हीरोइन तो एक और है। या यह समझ लीजिए कि इस कहानी में एक हीरो और एक हीरोइन के बजाय दो हीरोइनें हैं। एक तो यह छतरी और एक वह। रहा मैं, तो मेरी वही हालत है जो दो औरतों के बीच किसी शरीफ़ आदमी की हो सकती है। मैंने अपने को शरीफ़ आदमी कहा। इसे मेरा सौभाग्य न समझिए, बल्कि मेरी बदकिस्मती समझिए। जी हाँ, मेरी सबसे बड़ी बदकिस्मती यह है कि शरीफ़ हूँ, शरीफ़ज़ादा हूँ। मेरे बाप-दादा और उनके बाप-दादा सब शरीफ़ थे। जभी तो पाँच

बार गद्दे खाने के बाद भी बी०ए० न पास कर सका। चार साल से अख़बार के दफ्तर में प्रूफ़ रीडर हूँ। चालीस रुपये तनख्वाह मिलती है, मगर आज तक मालिक से तनख्वाह बढ़ाने को नहीं कहा। शराफ़त बाधक है। प्रेस के मैनेजर, फ़ोरमैन, हैड प्रूफ़रीडर, यहाँ तक कि दूसरे प्रूफ़रीडरों की झिड़कियाँ सुन लेता हूँ, मगर जवाब नहीं देता। शरीफ़ हूँ न! एक दिन एक शराबी टामी ने राह चलते यों ही मज़ाक-मज़ाक में एक तमाचा रसीद कर दिया। मैंने सोचा मैं भी यों ही मज़ाक-मज़ाक में एक हाथ झाड़ दूँ। मगर फ़ौरन शराफ़त ने कहा, 'छोड़ो भी, क्यों ज़लीलों के मुँह लगते हो?' और सुनिए मेरी शराफ़त की दास्तान। पैंतीस वर्ष की उम्र होने को आयी, आज तक शादी नहीं की। चालीस रुपये माहवार में क्या ख़ुद खाऊँ, क्या बीवी को खिलाऊँ। एक कमरे में तीन और ग़ैर-शादीशुदा लोगों के साथ रहता हूँ। शादी करूँ तो बीवी को कहाँ रखूँ, और पास न रखूँ तो शादी क्यों करूँ। मेरे तीनों साथी नियमित रूप से हर महीने एक बार पहली तारीख़ की रात को फ़ारस रोड जाते हैं और फिर अगले महीने की पहली तारीख़ का इन्तज़ार करते हैं।

उस दिन पहली तारीख़ थी और मैं जानता था कि आज वे तीनों आधी रात को घर वापस आयेंगे। मेरी जेब में बटुआ था और बटुए में दो-तीन रुपये की रेज़गारी के अलावा दस-दस रुपये के चार करारे नोट थे। मैं भी उनकी तरह इस मसरफ़ के लिए एक रुपया, दो रुपये, पाँच रुपये तक ख़र्च कर सकता हूँ, मगर मैं उनके साथ एक बार भी न गया।......मैंने कहा नहीं कि मैं शरीफ़ हूँ। और मेरी छतरी में सूराख़ हों, मगर मेरी शराफ़त में नहीं हैं।

"भाड़ में जाओ तुम और तुम्हारी छतरी और तुम्हारी शराफ़त!" आप दिल में ज़रूर कह रहे होंगे। "वह कहाँ है वह! कहानी की

हीरोइन !" माफ़ कीजिए आपको इन्तज़ार करना पड़ा। मगर फ़िल्म देखते हैं तो आपको ज़रूर मालूम होगा कि क़ामयाब फ़िल्म डायरेक्टर काफ़ी इन्तज़ार कराने और उत्सुकता जगाने के बाद ही पहली रील के आख़िर या दूसरी रील के शुरू में हीरोइन को पर्दे पर लाते हैं। आपने तो इन्तज़ार के कुछ मिनट ही गुज़ारे हैं। उस शाम को बस-स्टैण्ड पर मुझे तो आध घंटे से ज़्यादा गुज़ारना पड़ा। न बस आयी और न वह, यहाँ तक कि सड़क की बत्तियाँ जल गयीं और दूसरे जो मुसाफ़िर बस का इन्तज़ार कर रहे थे, तंग आकर ट्राम में बैठकर चले गये मैं अकेला आँखें फाड़-फाड़कर आनेवाली बस की रोशनी को तलाश कर रहा था कि मेरी नाक ने मुझे बताया कि वह आ गयी। मेरी आँखों ने उसे आते न देखा। मेरे कानों ने उसकी आहट न सुनी। मगर मेरी नाक ने उसकी ख़ुशबू सूँघ ली। धीमी-धीमी, तेज़-तेज़ ख़ुशबू जो विलायती इत्र, पाउडर, पसीने और बारिश की बूँदों से मिलकर तैयार होती है। मैंने सिर घुमाकर जो देखा तो उसको सामने खड़े पाया। हाथ में एक हरे रंग का बैग और बस। न छतरी न बरसाती। वह आयी ही थी कि बस भी आ गयी—दो मंज़िली बस। ऊपर की मंज़िल बग़ैर छत की और नीचे खचाखच भरी हुई। वह क्यू में मेरे पीछे थी, मगर मैं क़दम हटाकर पीछे हट गया कि अगर सिर्फ़ एक ही जगह हो तो उसे मिल जाय, मैं दूसरी बस का इन्तज़ार कर लूँगा......। मैंने कहा ना कि मैं शरीफ़ हूँ !

मगर मेरी क़ुरबानी की ज़रूरत न पड़ी। कंडक्टर ने कहा—बस ऊपर ख़ाली पड़ी है, जो मुसाफ़िर भी चढ़ेगा उसे ऊपर जाना पड़ेगा। दूसरे मुसाफ़िर बारिश के डर के मारे ज़ीने के पास दुबके हुए, चिपके हुए खड़े थे, मगर उसने परवाह न की और खट-खट करती हुई ऊपर चली गयी। पीछे-पीछे मैं। कंडक्टर ने ठीक कहा था। ऊपर एक

मुसाफ़िर भी न था। सिर्फ़ मैं और वह। वह दायें हाथ की बेंच पर बैठ गयी। मैं उसके पास ही बायीं ओर वाली बेंच पर। कंडक्टर आया। मैंने शिवाजी पार्क का टिकट लिया। उसने माहिम का। न जाने क्यों मुझे यह अच्छा लगा कि वह इतनी दूर जानेवाली है। उसके बाद कंडक्टर न जाने कहाँ ग़ायब हो गया। पीछे अपनी सीट पर बैठ गया, नीचे चला गया या हवा में ग़ायब हो गया। मगर रास्ते भर मैंने फिर उसे न देखा।

अभी बस बोरी बन्दर न पहुँची थी कि एक मोटी-सी बूँद मेरे गंजे सिर पर आ गिरी। मैंने सोचा, गंजे होने के भी कितने फ़ायदे हैं। आज अगर सिर पर बालों का छप्पर होता तो जब तक शराबोर न हो जाता, पता भी न चलता कि बारिश हो रही है। ऊपर निगाह की तो आसमान को बिलकुल अँधेरा पाया, जिस पर चमकते हुए बिजली और ट्राम के तारों का जाल बिछा हुआ था। मगर वह बूँद अपने क़ाफ़िले से भटक कर अकेली ही चली आयी थी क्योंकि उसका साथ देने के लिए एक बूँद भी और न गिरी।

बस ठहरी तो कैपिटल सिनेमा की रोशनीमें मैंने उसका चेहरा पहली बार देखा। गोरा-गोरा, गुलाबी-गुलाबी। किताबी चेहरे के गिर्द सुनहरे बालों का हाला। बालों में दो मोटी-मोटी बूँदें इस तरह चमक रही थीं जैसे मोती पिरोये हुए हों। मैंने दिल में सोचा, 'यह मेमें भी कितनी ख़ूबसूरत होती हैं!' मगर कैपिटल सिनेमा की रोशनी शायद मेरे चेहरे पर भी पड़ी क्योंकि उसने एक निगाह मेरी तरफ़ डाली और कुछ ऐसे मुँह फेर लिया मानो दिल में सोचा, 'यह हिन्दुस्तानी भी कितने बदसूरत होते हैं!' और उस क्षण अपने टूटे हुए जूते, फटे हुए कोट, पैबन्द लगी हुई कमीज़, बग़ैर इस्त्री की पतलून, तीन दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी और गंजे सिर और सबसे अधिक अपने काले रंग से मेरे मन में

कुछ ऐसा हीन भाव उत्पन्न हुआ कि दुबारा उसकी ओर देखने का साहस न हुआ। परन्तु यह अनुभव बहुत जल्द मेरे दिमाग़ के पिछले कोने में चला गया, जब चाँद पर दो मोटी-मोटी बूँदे पड़ीं। उन दोनों को शायद यह चिकना-चिकना खेल का मैदान पसन्द आया और उन्होंने अपनी बहनों, सहेलियों, बल्कि दूर की रिश्तेदारों और मुहल्ले-वालियों को भी बुलावा भेज दिया। बस क्राफ़ोर्ड मार्केट पहुँची ही थी कि बारिश बाक़ायदा शुरू हो गयी।

मगर मुझे अपने भीगने की इतनी फ़िक्र नहीं थी जितनी उसकी। माना कि उसने मेरी तरफ़ नफ़रत से देखा था, मगर फिर भी वह औरत थी और वह भी ख़ूबसूरत औरत। और कम-से-कम उस वक़्त तो वह भी मेरी तरह मुसीबत में थी। मैंने उसकी तरफ़ नज़र की तो उसे अपनी तरफ़ देखते पाया और इस बार उसकी आँखों में वह पहले जैसी नफ़रत न थी। क्या यह मेरी आँखों का कसूर था या वह सचमुच मेरी तरफ़ देखकर मुस्करा रही थी?

"छतरी क्यों नहीं खोल लेते?" उसने बड़े मीठे स्वर में कहा। अब मैं उसे अपनी छतरी की दुर्दशा कैसे सुनाता कि यह दिखावे-ही-दिखावे की है, काम की नहीं।

"छतरी! ओह छतरी!" मैंने ज़ंग लगी हुई कमानियों को खोलते हुए जवाब दिया, "ख़ूब याद दिलाया आपने, शुक्रिया!" मानो मैं कोई फ़िलासफ़ी का प्रोफ़ेसर था जो सिर्फ़ बेपरवाही की वजह से अपनी पच्चीस रुपये वाली रेशमी कपड़े की छतरी खोलना भूल गया हो।

बारिश हो रही थी। वह भीग रही थी। मैं छतरी या छलनी जो कुछ भी समझ लीजिए, लगाये बैठा था। कुछ-न-कुछ बचाव तो हो ही रहा था। "आइए आप भी छतरी के नीचे इस सीट पर बैठ जाइए।" कई बार यह शब्द मेरी ज़बान की नोक पर आये, मगर फिर मैं रुक

गया। कुछ झिझक, कुछ झेंप, कुछ ख़ूबसूरती का रोब, कुछ डर कि शायद इस बेतकल्लुफ़ी पर डाँट न दें। आख़िर मेम ठहरी और मैं एक शरीफ़ आदमी। मैंने बस के बाहर की तरफ़ देखना शुरू कर दिया जैसे मुझे किसी भीगती हुई औरत की उपस्थिति का ज्ञान ही नहीं था।......और फिर मेरी नाक ने मुझे बताया कि वह उठकर मेरी सीट पर आ गयी है और दायें घुटने पर हल्के-से, नर्म-से, लतीफ़-से दबाव ने इस बात का समर्थन किया।

"आइए, आइए। आप आराम से बैठिए।" मैंने सरक-सरककर लकड़ी की दीवार में घुसने का असफल प्रयत्न करते हुए कहा और छतरी उसकी तरफ़ झुका दी। जिधर सूराख़ ज़्यादा थे, वह हिस्सा मैंने अपनी तरफ़ कर लिया ताकि मैं भीगूँ या बचूँ, मगर वह बची रहे।

"बड़ी मेहरबानी है आपकी!" उसने सचमुच कृतज्ञतापूर्वक कहा, "आप अपनी छतरी में आसरा न देते तो मैं तो बिलकुल भीग जाती।"

और मैंने सोचा, "ऐ जाने जहान! यह टूटी हुई छलनीनुमा छतरी क्या चीज़ है, अगर दस छतरियाँ तुम पर कुरबान कर दी जायँ तो कम है। तुम्हारे लिए तो जान हाज़िर है।"

बातों का सिलसिला छिड़ गया—

"आप क्या काम करते हैं?"

"मैं अख़बार के दफ़्तर में हूँ।" (इसका कोई ज़िक्र नहीं कि एडीटर हूँ या प्रूफ़ रीडर!)

"आप भी कुछ काम करती हैं क्या?"

"जी हाँ, काम ही समझिए।"

मैंने दिल में सोचा, बेचारी कोई स्टैनोग्राफ़र होगी। दिन भर टाइपराइटर पीटकर थकी-हारी वापस आ रही है। लोग भी बेकार इन मेमों को बदनाम करते हैं। बेचारी कितनी नम्रता से पेश आ रही है।

बारिश अब मूसलाधार हो रही थी। मैंने कहा, "आपका फ्रेम भीग जायगा। यह केनवेस का गिलाफ़ घुटनों पर डाल लीजिए।" चार घुटनों पर जब एक गिलाफ़ डाला गया तो टक्कर अनिवार्य थी। भीगी हुई कोमल टाँगों के स्पर्श के साथ एक बिजली-सी बदन में दौड़ गयी। मैंने अपने उन तीनों बदमज़ाक दोस्तों का ख़याल किया जो उस वक्त फ़ारेस रोड की ख़ाक, बल्कि कहना चाहिए कीचड़ छान रहे होंगे और मेरा दिल ख़ुशी और गर्व से भर गया। बदतमीज़, गन्दे कीड़े ! गन्दी नालियों में मारे-मारे फिरते हैं और मुझे दे खो—मुझे ! मैं एक बस की खुली हुई छत पर अपनी छतरी के नीचे दुनिया की सबसे हसीन लड़की को बग़ल में लिये बैठा हूँ।

अब बारिश के साथ-साथ हवा का झक्कड़ भी चल रहा था। छतरी का बस न चलता था कि पैराशूट बनकर मुझे उड़ाकर ले जाय। मैं पूरी ताकत से दायें हाथ में टूटा हुआ हैंडिल और बायें हाथ से फ्रेम को पकड़े हुए था कि कहीं हवा के ज़ोर से उलट न जाय। इतने में मैंने अपने दायें हाथ के पास एक नर्म हाथ का सामीप्य अनुभव किया। छतरी को सम्हालने के लिए वह भी मेरी मदद कर रही थी। उसका दायाँ हाथ मेरे हाथ के साथ हैंडिल पर था और बायाँ मेरी कमर के पीछे से होता हुआ छतरी के फ्रेम को सम्हालने का प्रयत्न कर रहा था। उफ़ ! कितने मादक थे वह क्षण !

मैं शरीफ़ अवश्य हूँ, परन्तु रसिक-स्वभाव का भी हूँ। मैंने परिस्थिति पर विचार किया तो बड़ी रोचक लगी। एक पुरुष और एक स्त्री—एक सुन्दर स्त्री ! दोनों एक ही छतरी के साये में एक दूसरे के इतना पास। लगभग एक दूसरे से लिपटे हुए। किसी शायर का शेर मेरे दिमाग़ में बिजली की तरह कौंदा :—

लिपट जाते हैं वो बिजली के डर से,
इलाही यह घटा दो दिन तो बरसे।

परन्तु रसिक होने के अतिरिक्त मुझे राजनीति में भी दख़ल है। रोज़ अख़बार के प्रूफ़ पढ़ता हूँ ना। आज़ादी! अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति! एटलांटिक चार्टर! सान फ्रान्सिसको! पोट्सडम! मैं इन शब्दों के रूप से परिचित हूँ। मैंने हज़ारों राजनीतिक लेखों के प्रूफ़ पढ़ डाले हैं। इसी कारण मैं विशेष प्रतिनिधि की तरह हर मौसम में राजनीतिक अर्थ निकाल सकता हूँ। उदाहरणतः आज आसमान पर काले काले बादल छाये हुए हैं, इसलिए गांधी जी और मिस्टर जिन्ना की बात-चीत के बारे में राजनीतिक क्षेत्रों में निराशा प्रकट की जा रही है। आज प्रातःकाल सूरज ने बादलों में से मुँह निकालकर झाँका है जिससे आशा की जाती है कि कांग्रेस और लीग में समझौते की कोई सूरत निकल आयेगी। वेवेल कांफ्रेन्स के समय शिमले से आनेवाली रिपोर्टों के प्रूफ़ पढ़ते-पढ़ते तो मैं इस प्रकार के राजनीतिक ऋतु-परिचय में प्रवीण हो गया हूँ।.. हाँ, तो उस समय भी मैंने अपनी और उस लड़की की अजीब परिस्थिति में मुलाकात पर विचार किया कि इसे किस राजनीतिक घटना का चिन्ह माना और प्रसारित किया जा सकता है। तत्काल मेरे दिमाग़ ने कहा, यह तो बिलकुल खुली हुई बात है। तू हिन्दुस्तान है, मुसीबत का मारा हिन्दुस्तान, जिसकी छतरी और जूते और कमीज़-पतलून में छेद हैं। यह लड़की बरतानिया है, जो अपने हुस्न और नाज़-ो-अदा से हिन्दुस्तानियों के दिलों पर हुकूमत करती है। यह बारिश और तूफ़ान जंग और फ़ाशिज़्म का तूफ़ान है। और यह टूटी हुई छतरी? हिन्दुस्तान की बची-खुची पूँजी है जो हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान दोनों को इस तूफ़ान से बचाये रखने के लिए ज़रूरी है......।

अब बस भिण्डी बाज़ार में से गुज़र रही थी। एक दुकान के ऊपर कपड़े पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था पाकिस्तान या मौत। बारिश का पानी पड़ने से पाकिस्तान की दाढ़ी निकल आयी थी और मौत फैलकर और भी भयानक हो गयी थी। मैंने दिल में कहा, मैं मौत से डरता हूँ, मुझे पाकिस्तान ही दे दो और फिर मेरे अख़बारी दिमाग़ ने कहा, "तू हिन्दुस्तान है और यह लड़की पाकिस्तान और यह तूफ़ान अँग्रेज़ी साम्राज्य है और यह छतरी हिमालय पहाड़ है जिसकी छाँव में दोनों को शरण मिलती है। मगर नहीं नहीं, यह बेपरदा अँग्रेज़ लड़की पाकिस्तान कैसे हो सकती है और मैं एक गाय का गोश्त खानेवाला मुसलमान हिन्दुस्तान या हिन्दुस्तानी कैसे हो सकता हूँ और यह फटी हुई छतरी हिमालय पहाड़ कैसे हो सकती है......। यह उपमा कुछ जँची नहीं।

बारिश और तूफ़ान का ज़ोर कम हो गया था और वह मेरे कन्धे पर सिर रखे सो रही थी। जैसे ख़ूबसूरत-सी बिल्ली खरखर करती हुई दुबक कर सो जाय। लाहौल बिला कूवत! मैं भी क्यों ख़ाह-म-ख़ाह राजनीतिक उपमाओं के जाल में फँस गया। हम दोनों हिन्दुस्तान इंगलिस्तान या हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नहीं थे। हम प्रतीक थे प्रेम के— वह अमर वस्तु प्रेम जो सृष्टि के आदिकाल से लेकर आज तक स्त्रियों और पुरुषों को एक दूसरे से मिलाती आयी है। हम दोनों लैला-मजनूं थे। हम शीरीं-फ़रहाद थे...और और...यह दूध की नहर थी जो छतरी के एक सूराख़ में से गुज़रकर मेरे कोट के कालर में से होती हुई मेरी रीढ़ की हड्डी पर से बह रही थी।...हाँ, तो वह मेरे कन्धे पर सिर रखे सो रही थी और मैं......तो वह शायर पहले ही बयान कर गया है कि—

नींद उसकी है, दिमाग़ उसका है, रातें उसकी,
तेरी ज़ुल्फें जिसके बाज़ू पर परेशां हो गईं ।

और इसी तरह बायकला, परेल, दादर गुज़र गये। बारिश रुक गयी बिना उसकी नींद को परेशान किये हुए बस तिलक ब्रिज पर से गुज़र रही थी, जब उसने अपनी स्वप्निल आँखें खोलीं, एक अँगड़ाई ली और बोली—"आपका बहुत बहुत शुक्रिया!" न जाने क्यों 'बहुत बहुत' पर इतना ज़ोर! और मेरे जी में आयी कि कहूँ, शुक्रिया तो मुझे अदा करना चाहिए क्योंकि यह मेरी ज़िन्दगी के सुनहरे क्षण थे। मगर ऐसा कहना कुछ बदतमीज़ी मालूम हुआ। इसलिए मैं चुप रहा। सिर्फ़ "जी इसमें शुक्रिया की क्या बात है।" बड़बड़ा दिया। अब बस शिवाजी पार्क के नुक्कड़ पर मुड़ रही थी और मेरा दिल बैठा जा रहा था क्योंकि हरिनिवास पर मुझे उतरना था। लाख कोशिश की कि हिम्मत करके उसका पता पूछ लूँ, मगर फिर उसी कमबख्त ख़ानदानी शराफ़त ने ज़बान पर ताला लगा दिया।

"हरि निवास" नीचे से कंडक्टर चिल्लाया।

ज्यों ही झटके के साथ बस रुकी मैं हड़बड़ाकर उठा और अपनी टूटी हुई छतरी उठायी।

"गुड नाईट!" उसने मुस्कराकर विदा दी। उफ़! उसके दाँत कितने चमकदार थे!

"गुड नाईट!" मैंने जी न चाहते हुए भी कहा और अन्तिम बार उसके सुन्दर मुख को देखकर नीचे उतर आया।

सामने ईरानी की दूकान में बत्तियाँ जगमगा रही थीं। घर जाने को मेरा जी न चाहता था। सोचा एक प्याली चाय पी लूँ, फिर जाऊँगा।

चाय गर्म न थी। एक घूँट में पी गया। छतरी सम्हाली और चलने लगा।

"ओ मिस्टर। पैसे तो देते जाइए।" बेरे ने आवाज़ दी।

लाहौल विला कूवत ! मैं भी किस ख़यालों में गर्म हूँ कि दाम दिये बिना ही जा रहा था और यह बेरा समझता होगा कि मैं कोई उठाई-गीरा हूँ। मैंने तय कर लिया कि उसे एक आना इनाम दूँगा ताकि उसको मालूम हो जाय कि मैं कोई ऐसा-वैसा नहीं हूँ। इसके अलावा आज की रात एक यादगार रात थी। इस ख़ुशी में......।

मेरा हाथ कोट के अन्दर की जेब में था, मगर वहाँ बटुआ न था। बटुआ किसी जेब में भी न था।

मेरे कानों में एक मीठी आवाज़ आयी "आपका बहुत-बहुत शुक्रिया।" और न जाने क्यों 'बहुत बहुत' पर ज़ोर।

एक टैक्सी वाला बराबर में बैठा चाय पी रहा था। सामने सड़क के किनारे उसकी टैकसी खड़ी थी। मैंने सोचा, "अगर मैं चाहूँ तो इस टैकसी में बैठकर उस बस को माहिम पहुँचने से पहले पकड़ सकता हूँ, उस लड़की को गिरफ्तार कराके अपना बटुआ, अपने चालीस रुपये, अपनी गाढ़े पसीने की कमाई वापस ले सकता हूँ। मगर मैंने कुछ भी न किया। क्यों? इसलिए कि...इसलिए कि ..आख़िर वह अंग्रेज़ ठहरी और मैं एक शरीफ़ आदमी। मैंने आपसे कहा नहीं था शराफ़त मेरी सबसे बड़ी बदकिस्मती है।

चिराग़ तले अँधेरा

पच्चीस जनवरी की शाम थी और सारे शहर में आज़ादी की दीवाली मनायी जाने वाली थी। हर बड़ी इमारत को बिजली के कुमकुमों के जगमगाते हुए हार पहनाये जाने वाले थे।

घंटा-घर के चारों तरफ़ लकड़ी की बल्लियों और बाँसों की पाड़ बँधी हुई थी जो दूर से ऐसी लगती थी जैसे किसी राक्षस का पिंजर—जिसकी पसलियाँ और हड्डियाँ शरीर से बाहर निकल आयी हैं। और डूबते हुए सूरज की रोशनी में इस राक्षस के चेहरे—यानी घंटा-घर के डायल—पर भी मौत का पीलापन छा चुका था।

काम ख़त्म हो गया था। सब मज़दूर काम पूरा कर, अपनी मज़दूरी ले, अपने-अपने घर जा चुके थे। अब सिर्फ़ एक मज़दूर ऊपर रह गया था, जो नीचे से देखने पर ऐसा लगता था जैसे राक्षस के मुर्दा चेहरे पर कोई कीड़ा रेंग रहा हो।

सड़क से सैकड़ों फ़ुट की ऊँचाई पर, पाड़ की बल्लियों में वह

बन्दर की तरह टँगा हुआ था। आख़िरी बल्ब को उसकी जगह बैठाकर वह साँस लेने के लिए रुका। सामाने ही घंटे का राक्षसी चेहरा उसका मुँह चिढ़ा रहा था और उस पर कई फ़ुट लम्बी सुइयाँ एक अनोखी शान से एक-दूसरे का पीछा कर रही थीं। इतने पास से घटे के चलने की आवाज़ कितनी डरावनी लगती थी, जैसे किसी लाउड-स्पीकर में ख़ुद उसके दिल की धड़कन सुनायी दे रही हो।

नीचे उतरने से पहले उसने एक बार निगाह ऊपर की। बिजली के तारों के गजरे घटा-घर की चोटी पर लिपटे हुए थे और उनकी लड़ियाँ नीचे तक लटकी हुई थीं! एक मुर्दा राक्षस को सेहरा पहनाकर दूल्हा बनाया जा रहा था। मगर बिजली के फूल खिलने में बहुत देर थी। घंटा-घर की चोटी के ऊपर दो सफ़ेद बादलों के टुकड़े नीले आकाश में तैर रहे थे और कौवों की एक टोली उसके ऊपर से काँय-काँय करती हुई गुज़र रही थी—उसके इतने पास से कि वह उड़ते हुए कौवों के नर्म काले परों की चमक और उनकी नुकीली चोंचों की धार को देख सकता था, उस हवा के झोंके को अपने मेहनत से तमतमाये हुए गालों पर महसूस कर सकता था जो उनके परों की मार से पैदा हुआ था। एकाएक उसे इस ख़याल ने गुदगुदाया कि इस वक्त वह सारे शहर में सबसे ऊँची जगह पर बैठा हुआ है। अमीरों, रईसों, मिल-मालिकों, पूँजीपतियों, नेताओं और अफ़सरों, राजा-महाराजाओं, संत-साधुओं और विद्वानों—इनमें सबसे ऊँचा स्थान आज उसका है। दो रुपये रोज़ पाने वाले एक मज़दूर का! भला और किसकी हिम्मत हो सकती है कि वह जान पर खेलकर घंटा-घर की चोटी पर यों चढ़ जाय?

उसने अपनी गर्दन मोड़ी और उसकी निगाह मैदान के पेड़ों की चोटियों और मेरीन ड्राइव के शानदार मकानों की छतों से होती हुई नीले समुद्र तक पहुँच गयी, जहाँ सूरज की सुनहरी गेंद धीरे-धीरे पानी में डूब

रही थी। इतना सुन्दर और शानदार नज़ारा भला और किसी को कभी नसीब हुआ है? यह सोचकर उसने नीचे सड़क की तरफ़ देखा, जहाँ आते-जाते मर्द और औरतें गुड़ियों जैसे लगते थे और मोटरें बच्चों के खिलौने। एक पल के लिए वह यह देखकर मुस्कराया और उसका दिल गर्व से भर उठा। उसे अपनी हिम्मत और बेजिग्री का ही घमंड न था, अपने गठे हुए मज़बूत शरीर के अंग अंग, अपने फ़ौलादी हाथों और अपने फुर्तीले पैरों का भी घमंड था, जिनके सहारे वह यहाँ तक चढ़ पाया था। उसे ऐसा लग रहा था कि इस समय वह दुनिया का सबसे बड़ा, सबसे महत्वपूर्ण, सबसे ताकतवर इन्सान है और बाकी सब लोग ये मोटरों वाले और रेशमी कपड़ों वाले और रंगीन साड़ियों वालियाँ, कोई अर्थ नहीं रखते।

मगर गर्व के साथ-साथ एक बेनाम-सा डर रेंगता हुआ उसके दिल में पहुँच गया और इतनी ऊँचाई से नीचे की तरफ़ देखते-देखते उसका सिर चकराने लगा। जो नीचे जाते हुए उसका पैर फिसल जाय? हाथ की पकड़ ढीली पड़ जाय? गठे हुए, तने हुए पट्ठों की ताकत एकाएक जवाब दे दे? कोई बल्ली उसके बोझ से टूट जाय या बल्लियों के जोड़ों पर बँधी हुई किसी रस्सी की एक गाँठ खुल जाय?...तो क्या एक पल में उस काली, पथरीली, डरावनी सड़क पर गिरकर उसके इस मज़बूत गठे हुए शरीर के टुकड़े-टुकड़े न हो जायँगे? दूर नीचे सड़क पर मौत उसका कितनी बेचैनी से इन्तज़ार कर रही थी।

ऐसा डर उसे कई बार पहले भी लगा था, मगर आज डर के साथ-साथ एक नयी चेतना भी थी। शहर के सब लोग हँसते-खेलते ज़मीन पर फिर रहे थे, ख़ुशी मना रहे थे। तो वह क्यों बन्दर की तरह इतनी ऊँचाई पर टँगा हुआ है? उसने ही अपनी जान को क्यों ख़तरे में डाला है? सिर्फ़ दो रुपये के लिए जो ठेकेदार उसे देगा, अगर वह

सही सलामत नीचे उतर गया। नहीं तो दो रुपये भी गये और उसकी जान भी गयी। दो रुपये और एक जान! कितनी सस्ती बाज़ी थी। उसकी आँखों के सामने ताश के पत्ते घूमने लगे—इक्के, नहले, दहले, बादशाह, बेगम और ग़ुलाम—बादशाह और ग़ुलाम, ग़ुलाम और बादशाह। और उसका जी चाहा कि वहीं खड़े होकर चिल्लाने लगे और नीचे आने-जाने वालों से पूछे 'क्यों, आख़िर ऐसा क्यों होता है। बादशाहों के लिए रंगरलियाँ और ग़ुलामों के लिए मेहनत, मज़दूरी और मौत। कोई अपनी जान को ख़तरे में डाले, और दूसरे मज़े उड़ायँ। कोई घंटा-घर की चोटी पर बन्दर की तरह चढ़कर बल्ब लगाये और कोई बस एक बटन दबाते ही इन लाखों बत्तियों को जगमगा कर नयी दीवाली मनाये। यह ऊँच-नीच, यह भेद-भाव, यह अन्याय। आख़िर क्यों? क्यों? इस एक शब्द के संघर्ष से उसके दिमाग़ में एक ख़तरनाक इन्कलाबी गीत गूँज उठा।

ख़ौफ़ का पल, गुस्से और जोश का पल गुज़र गया। उसकी ज़िन्दगी में न जाने कितनी बार यह पल आया था और गुज़र गया था.. और दो टाँग का बन्दर एक बल्ली से दूसरी पर पाँव धरता अपने फ़ौलादी हाथों और मज़बूत टाँगों और गठे हुए पट्ठों के सहारे नीचे उतर आया। सिर्फ़ एक बार, बस आधे सेकण्ड के लिए, उसका दिल चलते-चलते रुक गया जब पसीने की वजह से बाँया हाथ एक बल्ली की चिकनी गोलाई पर से फिसला। मगर फ़ौरन ही आप-से-आप उसके दाहिने हाथ की पकड़ मज़बूत हो गयी। उसकी बाँहों और टाँगों के पट्ठे तन गये और उसके नंगे पाँव बिल्ली के पंजों की तरह नीचे की बल्ली में गड़ गये.. ख़तरे का पल भी गुज़र गया और वह नीचे ज़मीन पर उतर आया।

ठेकेदार ने उसे मज़दूरी के दो रुपये दे दिये, मगर मज़दूर कुछ

देर ठहरा रहा, वहीं घंटा-घर के सामने। बात यह थी कि उसने सिर्फ़ दो रुपये के लिए ही अपनी जान ऐसे ख़तरे में न डाली थी। वह एक और इनाम भी चाहता था और वह उसे मिल गया जब अँधेरा होते ही लाखों रोशनियाँ एकाएक जगमगा उठीं। यह एक नयी दीवाली की दीप-माला थी। यह साधारण दीपमाला नहीं थी, बल्कि अँधेरे आसमान पर चमकते हुए शब्दों में आजादी का ऐलान लिखा हुआ था। लोकराज का आगमन हुआ था और इन लाखों जगमगाती हुई बत्तियों में वह सैकड़ों बत्तियाँ भी थीं, जो उसने अपने हाथ से लगायी थीं। यही उसका इनाम था। उसने सोचा, इस ऐतिहासिक उत्सव में मेरा भी हिस्सा है। यह घंटा-घर, यह सुनहरा संसार, यह सारी रोशनियाँ, यह ज़िन्दगी, यह चहल-पहल, यह आज़ादी, यह लोकराज, यह नया हिन्दुस्तान, यह सब मेरे दम से है—मेरे दम से—मेरे—

मुस्कराता, हँसता, भीड़-भाड़ में से गुज़रता हुआ एक अजीब नशे में चूर वह अपने घर की तरफ़ चल पड़ा। रेलें, ट्रामें, बसें सब खचा-खच भरी हुई थीं। कोई सवारी मिलनी भी असम्भव थी। सो पैदल ही वह कालबादेवी, भायखला, लालबाग होता हुआ परेल पहुँच गया। हर सड़क पर भीड़ लगी हुई थी, हर बिल्डिंग नीचे से ऊपर तक रोशनियों से जगमगा रही थी—रोशनियाँ जो उसने या उस जैसे मज़दूरों ने लगायी थीं, जिनके लिए उस जैसे मज़दूरों ने अपनी जानें जोखों में डाली थीं। सड़क पर लोग रोशनियाँ देखने के लिए निकले हुए थे। वह ख़ुश थे, हँस रहे थे, गा रहे थे। और उसका दिल भी गा रहा था।

परेल के पुल से जब उसने सारे शहर को जगमगाते हुए देखा तो उसने सोचा—यह लाखों-करोड़ों रोशनियाँ ऐसी लगती हैं जैसे रात की काली राजकुमारी को मोतिए के सफ़ेद फूलों के गजरे पहना दिये गये हों। और फिर अपने काव्यमय विचारों पर वह ख़ुद ही शरमा-सा

गया। मगर उसने सोचा, घर जाकर यह बात अपनी गौरी को बताऊँगा। वह यह सुनकर बहुत ख़ुश होगी...

मगर यह बात उसके मन ही में रही और वह गौरी को न बता सका, क्योंकि जिस तंग गली में उनकी चाल थी, वहाँ तो एक गैस की बत्ती अपना मैला बिसूरता हुआ मुँह लिये जल रही थी। सड़कों और बाज़ारों की जगमगाहट के बाद इस गली की मद्धम रोशनी उसे अँधेरा ही लगी। आँखें झपकाता, रास्ता टटोलता अपनी चाल तक पहुँचा। बदबूदार सीढ़ियों पर घुप अँधेरा था और उन पर चढ़ना उसे घंटा-घर की मचान पर चढ़ने से भी ज़्यादा ख़तरनाक लगा। कई दूसरे कमरों में मिट्टी के तेल की बत्तियाँ धुएँ से घिरी हुई थीं। मगर ख़ुद उसके कमरे में अँधेरा था। उसकी बीवी ने कहा—

"आज बाज़ार में तेल नहीं मिला।"

और उस पल वह काली राजकुमारी के गले में मोतिए के गजरे वाली ख़ूबसूरत लोकोक्ति को भूल गया जो वह रास्ते-भर अपनी पत्नी को बताने के लिए सोचता आया था। एकाएक उसे उन लाखों-करोड़ों बिजली की बत्तियों का ध्यान हो आया जो सारे शहर में वह अभी देखता चला आ रहा था। और फिर उसे याद आया कि उनकी अपनी चाल में बिजली की एक भी बत्ती नहीं थी। क्यों? इसलिए कि म्यूनिसिपैलिटी का कहना था कि बिजली शहर की सारी ज़रूरतों के लिए काफ़ी नहीं है और इसलिए कितनी ही चालों को अँधेरे ही में रहना पड़ेगा।

दूर, बहुत दूर, सारा शहर लोकराज का त्योहार मना रहा था। करोड़ों रोशनियाँ आज़ादी और प्रजातन्त्र की घोषणा कर रही थीं, मगर इस चाल के रहने वालों के लिए वे रोशनियाँ उतनी ही ख़ूबसूरत पर उतनी ही बेकार थीं जैसे किसी राक्षस के सिर पर जगमगाता हुआ सेहरा......या किसी काली राजकुमारी के गले में मोतियों के गजरे...

इतनी दूर थीं जैसे आसमान पर फैले हुए सितारे...मगर वे जानते थे कि एक दिन इन्हीं तारों को तोड़कर ज़मीन पर लाना होगा...अँधेरी चालों में रोशनी करने के लिए ...

शीशे की दीवार

रेस्तरां के अन्दर आर्ट था, सजावट थी, क़ायदा और कानून था, अजन्ता की तस्वीरें थीं, बुद्ध की संगमरमर की मूर्तियाँ थीं, दक्षिण के मन्दिरों में से चुराये हुए कांसे के बुत थे। अगरदानों से ख़ुशबूदार धुआँ निकल रहा था। चमकती हुई थालियों में पूरियाँ, चावल और छः तरह की तरकारियाँ, दाल, रायता, पकौड़ियाँ, मिठाई। मेहमान खाना खा रहे थे और साथ-साथ भरत-नाट्यम् का नाच भी देख रहे थे। ग्रास चबाने, डकारने और छुरी काँटों, प्लेटों और थालियों के टकराने की आवाज़ें, घुँघरुओं की झँकार के साथ मिलकर एक अनोखा संगीत पैदा कर रही थीं।

रेस्तरां के बाहर शोर था, भीड़-भड़क्का था। हज़ारों आदमियों का जमघट था। मेहनत के पसीने की बू थी।

अन्दर एक दुबली-पतली पीले चेहरे वाली निपुण नर्तकी पुराने महलों और मन्दिरों के नाच नाच रही थी—तबले और मृदंग की ताल पर।

बाहर लोग गा रहे थे, शोर मचा रहे थे, सीटियाँ बजा रहे थे, टीन के कनस्तर पीट रहे थे, नाच रहे थे—तालियों और अपने दिलों की जोशीली धड़कन की ताल पर। सड़क पर, दुकानों के सामने की पटरियों पर, ट्रामों की छतों पर एक जोशीला, बेक़ायदा नाच, जिसका ज़िक्र नृत्य-शास्त्र में कहीं नहीं लिखा।

'अन्दर' और 'बाहर' के बीच बस एक शीशे की दीवार थी। 'बाहर'

की भीड़ में से कुछ नौजवान इस शीशे की दीवार में से 'अन्दर' झाँक रहे थे, मगर जो ड्रामा उन्हें दिखायी दिया उसमें रंगीनी थी; आवाज़ नहीं थी। ज़िन्दगी नहीं थी। शीशे की दीवार में से ऐसा लगता था जैसे साज़ बे-आवाज़ हैं, नाचने वाली पुराने युग की कोई देवदासी है जिसके घुँघरू हमेशा के लिए ख़ामोश हो चुके हैं और मेज़ों के गिर्द बैठे हुए मेहमान मोटे-ताज़े भूत हैं जो आदि से अन्त तक खाते ही रहेंगे।

'अन्दर' ऐश था, आराम था, बन्द कमरे की गर्मी थी, घुटन थी।

'बाहर' समुद्र की ठंडी हवा चल रही थी।

'अन्दर' कला और सभ्यता थी।

'बाहर' शोर था, हंगामा था, हलचल थी।

'अन्दर' अगर बत्तियों और सेंट की ख़ुशबू थी।

'बाहर हज़ारों इन्सानों के पसीने में नहाये हुए जिस्मों कि बू थी।

'अन्दर' सुन्दरता थी, व्यवस्था थी—और मौत!

'बाहर' बदसूरती थी, अव्यवस्था थी—और ज़िन्दगी!

और 'अन्दर' और 'बाहर' के बीच सिर्फ़ एक शीशे की दीवार खड़ी अपने टूटने का इन्तज़ार कर रही थी।

लाल रोशनाई

'डैम!'

लम्बे बालों वाले नौजवान ने ऑक्सफ़ोर्ड के सीखे हुए लहजे में कहा और अपने चाँदी के सिगरेट-होल्डर से राख झाड़ते हुए लाल चमड़े की जिल्दवाली किताब को तिपाई पर रख दिया—जिसे वह पढ़ नहीं रहा था, बल्कि जिसकी वह सिर्फ़ तसवीरें देख रहा था। फिर उसने

पास रखे हुए गिलास को उठाया, व्हिस्की-सोडा एक घूँट पिया, मख़मली सोफ़ा से उठा और नर्म व बढ़िया ईरानी कालीन पर चलता हुआ खिड़की तक पहुँचा।

खिड़की में से उसने एक छिछलती हुई नज़र उस भीड़ पर डाली जो उसके मकान के सामने सड़क पर इकट्ठी हो गयी थी। जहाँ तक नज़र जाती थी भीड़-ही-भीड़ नज़र आती थी। माटुँगा और माहिम, दादर और परेल, भिंडी बाज़ार और भुलेश्वर, गिरगाँव और कालबा देवी और न जाने शहर के किस-किस गन्दे कोने से ये लोग चलकर आये थे। परेल के बहुत से मज़दूर खुली हुई बे-छत की मोटर गाड़ियों में खचाखच भरे हुए थे और बेफ़िक्री से गा रहे थे। 'महात्मा गांधी की जय' और 'पं० जवाहरलाल नेहरू ज़िन्दाबाद' के नारे लगा रहे थे। आगे कहीं सड़क पर मोटरें रुकी थीं और अब इन्सानों की यह नदी ठहरकर एक समुद्र बनती जा रही थी। मगर भीड़ में किसी को न कोई चिन्ता थी, न कोई जल्दी। वे बातें कर रहे थे, मज़ाक कर रहे थे, हँस रहे थे, यों ही शोर मचा रहे थे, पीपनियाँ और सीटियाँ और बाँसुरियाँ और तालियाँ बजा रहे थे, टीन के कनस्तरों को पीट रहे थे और कई जोशीले सड़क पर थिरक-थिरक कर नाच भी रहे थे। न जाने क्यों वे होली और दीवाली, ईद और बकरीद से बढ़कर इस प्रजातन्त्र उत्सव को मना रहे थे।

"हुँः! एँग्लो-अमरीकी साम्राज्य के पिट्ठू! दालमिया, बिड़ला के एजेन्ट!" लम्बे बालों वाले नौजवान ने खिड़की बन्द करते हुए कहा और इस 'क्रान्ति-विरोधी' भीड़ के शोर को अपने इन्कलाबी कानों तक आने से रोक दिया। वह अपनी सजी हुई मेज़ तक गया और घूमने वाली कुर्सी पर बैठकर उसने अपना सोने का पैन निकाला जिसमें लाल रोशनाई भरी हुई थी, और लिखा—

"आज सारे देश में नये विधान और उसके नामलेवा प्रजातन्त्र के विरोध में गुस्से का एक तूफ़ान उठ रहा है। जनता इस ढोंगी प्रजातन्त्र उत्सव में कोई भाग नहीं ले रही। आज मज़दूर और किसान इस नकली लोक-राज्य को कुचलते हुए, इन्कलाबी नारे लगाते, आगे बढ़ रहे है..."

ऐलान

ब्रिटिश क्राउन मिल्स के मालिक सेठ मोटालाल छोटाचन्द ने अपने मिल के सारे मज़दूरों और क्लर्कों को इकट्ठा होने का हुक्म दिया था। आज के दिन वह एक ऐतिहासिक ऐलान करने वाले थे।

भीड़ में कानाफूसी हो रही थी। कोई कहता था, सेठ साहब ऐलान करेंगे कि उन्होंने मज़दूर-संघ की माँगें स्वीकार कर ली हैं और सब की मज़दूरी बढ़ा दी गयी है। दूसरे समझते थे कि सेठ मज़दूरी तो नहीं बढ़ायगा, हाँ, इस शुभ दिन की ख़ुशी में महीने-दो-महीने का बोनस ज़रूर बाँट देगा। और सब सोच और इन्तज़ार में थे कि सुनें, सेठ साहब क्या कहते हैं—

"मज़दूर भाइयो! आज के शुभ दिन जब भारतवर्ष लोक-राज की ओर ऐतिहासिक कदम बढ़ा रहा है, मैं आपको बड़ी ख़ुशख़बरी देना चाहता हूँ जिसको सुनकर, मुझे विश्वास है कि आप सब ख़ुशी से फूले न समायँगे।"

मज़दूरी में बढ़ती?

बोनस?

कई दिन की छुट्टी—मज़दूरी समेत?

इन्तज़ार! बेचैनी!

सेठ साहब ने ड्रामाई अन्दाज़ में अपना भाषण रोका, अपनी सफ़ेद खद्दर की टोपी को फिर सिर पर जमाया, दो बार खँखारकर गला साफ़ किया, सामने रखे हुए चाँदी के गिलास में से पानी पिया और फिर बोले—"हमारे मिल के सब डायरेक्टरों ने फ़ैसला किया है कि आज के दिन की ख़ुशी में ब्रिटिश क्राउन मिल्स का नाम बदलकर 'स्वतन्त्र भारत मिल्स' कर दिया जाय। इससे बढ़कर आप सब के लिए ख़ुशी की बात भला और क्या हो सकती है ?"

उन्होंने एक पल इन्तज़ार किया कि तालियाँ बजें, मगर सारी भीड़ पर सन्नाटा छाया था। इसलिए उन्होंने अपना भाषण चालू रखा—

"हाँ, एक बात और कहनी है। जैसा आप ख़ुद सोच सकते हैं मिल का नाम बदलना कोई आसान या सस्ता काम नहीं है। कितने ही साइनबोर्ड नये बनवाने होंगे। नये नाम की रजिस्ट्री करानी होगी। कपड़े के थानों पर लगाने के ठप्पे बदले जायँगे। ख़त के काग़ज़, लिफ़ाफ़े नये छपवाये जायँगे। इसलिए मुझे अफ़सोस है कि इस साल हम आपको कोई बोनस न दे सकेंगे। मगर मुझे विश्वास है कि इस मिल के देश-भक्त मज़दूर हमारे फ़ैसले को पसन्द करेंगे। जैसा किसी महापुरुष ने कहा है—'इन्सान रोटी ही खाकर नहीं जीता, उसके लिए राष्ट्रीय आदर्श और देश-सेवा का भोजन भी तो चाहिए,' हा हा, हा हा "

यह कहकर वह अपने मज़ाक पर आप ही ज़ोर से हँसे, मगर उन की समझ में यह नहीं आया कि सब मज़दूर क्यों चुपचाप बैठे रहे ? जैसे उन सब को कोई साँप सूँघ गया हो !

गुण्डा और महागुण्डा

'लोकराज की जय !" गुण्डे ने ज़ोर से नारा लगाया जब उसे

बताया गया कि प्रजातन्त्र उत्सव की ख़ुशी में उसे और बहुत-से कैदियों को छोड़ दिया गया है।

"मैं चला बाहर!" उसने ख़ुशी से वार्डरों को बताया। "वाह री हमारी सरकार, भगवान् करे ऐसे-ऐसे उत्सव रोज़ हुआ करें!"

मगर जब वह जेल के फाटक से बाहर निकला, तो उसने देखा कि एक नये कैदी को अन्दर ले जाया जा रहा है। यह एक दुबला-पतला पीला-सा नौजवान था जो शक्ल से चोर, गुण्डा, डाकू हरगिज़ न लगता था।

"अरे भाई, आज अन्दर जाने का नहीं, बाहर आने का दिन है!" गुण्डा चिल्लाया—"तुम कहाँ चले?"

"आज तुम्हारे बाहर आने का और मेरे अन्दर जाने का दिन है", नौजवान ने पीली-सी मुस्कराहट के साथ जवाब दिया। "तुमने सिर्फ़ चोरी की थी, भाई, मगर मेरा अपराध तो बहुत बड़ा है।"

गुण्डे ने सोचा, मैं तो सिर्फ़ गुण्डा हूँ, यह महागुण्डा है। फिर उसने नौजवान से पूछा—"क्या है तुम्हारा अपराध?"

नौजवान ने कहा—"मैं कवि हूँ।"

मज़ाक

प्रेस में रात को भी काम हो रहा था, इसलिए कि कल सवेरे प्रजातन्त्र-दिवस के उपलक्ष में दैनिक का विशेषांक निकलने वाला था। पैंसठ बरस का बूढ़ा कम्पोज़ीटर (जो चालीस बरस तक यह नौकरी करते-करते लगभग अंधा हो गया था और जो अब अस्सी रुपये माहवार पर अपना और अपने परिवार का पेट पालता था।) एक ख़ुश्क-सी हँसी हँसा, जब टाइप लगाते हुए उसने अपनी टूटी हुई कमानी की ऐनक में से सम्पादकीय के अन्त में यह पैरा पढ़ा—

"आज हम यह प्रण करते हैं कि स्वतन्त्र प्रजातन्त्र भारत में न कोई बेकार रहेगा और न कोई भूखा। मज़दूर को उसकी पूरी मज़दूरी मिलेगी और बूढ़ा होने पर वह पेन्शन लेकर आराम कर सकेगा।"

"बत्तियाँ बुझा दो"

भिखारी को गुस्सा आ रहा था।

सारा दिन कितना बुरा कटा था। सड़कों पर इतनी भीड़ थी कि एक भिखारी को भीख माँगने के लिए हाथ फैलाने को भी जगह नहीं थी और न इस भयानक शोर में कोई उसकी 'भगवान् के नाम पर बाबा' की पुकार सुन सकता था। आधी रात तक हज़ारों आदमी उस सड़क की पटरी से गुज़रते रहे थे, जो बरसों से उसके सोने का कमरा बनी हुई थी। चीथड़ों का वह ढेर जो उसके बिस्तर का काम देता था, हज़ारों कदमों से रौंदा जाकर अब खो गया था।

घंटा-घर दो बजा रहा था जब भीड़ कम हुई और वह अपनी पटरी के पथरीले गद्दे पर लेट सका। मगर अब भी उसके लिए सोना सम्भव नहीं था।

चारों ओर, इधर-उधर, ऊपर-नीचे, आस-पास की सब इमारतों पर लाखों बत्तियाँ बेकार जल रही थीं। इस सारी जगमगाहट का बस एक ही कारण लगता था कि भिखारी उनकी भयानक चकाचौंध में सो न सके।

गुस्से से काँपता, आँखें मलता वह उठा और चौराहे के बीचों-बीच आकर खड़ा हो गया। उसने नज़र उठाकर उन रोशनियों को देखा जो उसे सोने न दे रही थीं, जो उस पर हँस रही थीं, उसका मज़ाक उड़ा रही थीं। ये रोशनियाँ उसकी दुश्मन थीं। देर तक वह गुस्से-भरी आँखों से उन्हें घूरता रहा। फिर उसने नफ़रत से ज़मीन पर थूका।

एक गाली उसकी ज़बान से निकली और सुनसान चौराहे के चारों ओर गूँज गयी और सिर उठाकर आकाश के तारों से उसने चिल्लाकर कहा :—

"बुझा दो, ओ भगवान्! इन बत्तियों को बुझा दो!"

दिया जले सारी रात

जहाँ तक नज़र जाती थी, तट के किनारे-किनारे नारियल के पेड़ों के झुंड फैले हुए थे। सूरज दूर समुद्र में डूब रहा था और आकाश में रंग-रंग के बादल तैर रहे थे—बादल जिनमें आग के शोलों जैसी चमक थी और मौत की स्याही सोने का पीलापन और खून की लाली...

त्रावनकोर का तट अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए सारी दुनिया में मशहूर है। मीलों तक समुद्र का पानी ज़मीन को काटता, कभी पतली नहरों के लहरिये बनाता, कभी चौड़ी-चकली झीलों की शक्ल में फैलता हुआ चला गया है।

उस घड़ी मुझ पर भी इस सुन्दर दृश्य का जादू धीरे-धीरे असर करता जा रहा था। समुद्र शीशे की तरह शांत था, मगर पश्चिमी हवा का एक हल्का-सा झोंका आया और समुद्र की सतह पर हल्की-हल्की लहरें ऐसे खेलने लगीं जैसे किसी बच्चे के ओठों पर मुस्कराहट खेलती

है। दूर—बहुत दूर—कोई मछेरा बाँसुरी बजा रहा था—इतनी दूर कि बाँसुरी की पतली धीमी तान फैले हुए सन्नाटे को और गहरा बना रही थी।

मेरा नाव वाला भी उस जादू भरे वातावरण से प्रभावित हो रहा था। ज्योंही हमारी लम्बी पतली किश्ती नारियल के झुंडों को पीछे छोड़ती हुई खुले समुद्र में आयी, उसने चप्पुओं पर से हाथ हटा लिये। समुद्र की तरह वह भी ख़ामोश था। किश्ती न आगे जा रही थी, न पीछे लहरों की गोद में धीरे-धीरे डोल रही थी। वातावरण इतना सुन्दर, इतना शांत, इतना स्वप्निल था कि ज़रा-सी हरकत या धीमी-सी आवाज़ भी उस समय के जादू को तोड़ने के लिए काफ़ी थी। किश्ती डोल रही थी। किश्तीवाला चुपचाप टिकटिकी बाँधे सूरज को डूबते हुए देख रहा था। मैं ख़ामोश था। ऐसा लगता था कि हवा साँस रोके हुए है, समुद्र गहरे सोच में है और दुनिया भी घूमते-घूमते रुक गयी है...

मैंने पीछे मुड़कर देखा। कोइलोन के शहर को हम बहुत दूर पीछे छोड़ आये थे। अब तो तट के किनारेवाले नारियल के झुंड भी नज़र न आते थे। और दूर से आती हुई ट्रेन की सीटी की आवाज़ ऐसी सुनायी देती थी जैसे किसी दूसरी दुनिया से आ रही हो। ऐसा लगता था जैसे उस छोटी-सी किश्ती में बहते-बहते हम किसी दूसरे ही संसार में जा निकले हों या बीसवीं सदी की दुनिया, उसकी संस्कृति और प्रगति को बहुत दूर छोड़ आये हों और किसी पिछले युग में वापस पहुँच गये हों जब इन्सान कमज़ोर था और प्रकृति के हर तत्व के सामने माथा टेकने पर मजबूर था। यहाँ समुद्र गहरा था—बहुत गहरा, और आकाश ऊँचा था—बहुत ऊँचा! और समुद्र और आकाश के बीच एक नन्हीं-सी, कमज़ोर सी, तुच्छ-सी किश्ती डोल रही थी और छोटा-सा,

काला-सा और नंगा किश्तीवाला ऐसा लगता था जैसे किसी पुराने ज़माने से भटककर इधर आ निकला हो जब इन्सान ने नाव बनाना और चप्पू चलाना सीखा ही था...

सूरज की अग्नि-गेंद समुद्र की सतह पर एक पल के लिए ठिठकी और फिर धीरे-धीरे पानी में डूब गयी—और फिर उसकी आख़िरी किरणें भी पश्चिमी आकाश पर गुलाबी पाउडर मलते हुए विदा हो गयीं और इसके थोड़ी देर बाद मौत की परछाईं की तरह गहरा अँधेरा आसमान और ज़मीन दोनों पर छा गया।

इतना गहरा अँधेरा कि मेरा दम घुटने लगा। मैं किश्तीवाले से कहने ही वाला था कि कोइलोन वापस चलें कि कुछ देखकर मैं ठिठक गया। वह दृश्य था ही इतना आश्चर्यजनक! हैरानी से मेरा मुँह खुला-का-खुला रह गया। क्या देखता हूँ कि दूर समुद्र में चिराग़ बहता हुआ चला जा रहा है।

"वह क्या है?" अंत में मैंने किश्तीवाले से पूछा।

पीछे मुड़कर उस अनोखे चिराग़ को देखे बिना ही वह बोला—"अभी आप ख़ुद ही देख लेंगे, साहब!" न जाने क्यों मुझे ऐसा लगा कि यह कहते वक्त उसकी आवाज़ काँप रही थी।

वह किश्तीवाला था सचमुच ही अजीब आदमी! शक्ल से न जवान लगता था और न बूढ़ा। त्रावनकोर में टूटी-फूटी अंग्रेज़ी तो प्रायः हरएक ही बोल सकता है, मगर वह अच्छी ख़ासी हिन्दुस्तानी भी बोल लेता था। असल में मैंने इसीलिए उसकी छोटी-सी किश्ती किराये पर ली थी। एक और वजह भी थी। मैं मुसाफ़िरों से भरी हुई दूसरी बड़ी-बड़ी किश्तियों में सैर करना न चाहता था; मैं शांति चाहता था, चीख़-पुकार और हंगामा नहीं। कोई बातूनी किश्तीवाला मिल जाता तो बेकार बकबक से सारा मज़ा किरकिरा कर देता। साहब, यह

देखो ! साहब, वह देखो ! वह लाइट-हाउस देखो ! वह टापू देखो ! साहब, कितने दिन ठहरोगे ? साहब, यहाँ से कहाँ जाओगे ? साहब, तुम कहाँ के रहने वाले हो ? साहब, बीबी-बच्चों को साथ नहीं लाये...? मगर मेरा किश्तीवाला मेरी तरह ही ख़ामोशी-पसन्द था। घंटा-भर में उसने मुश्किल से दो-चार बातें की होंगी। चुपचाप बैठा चप्पू चलाता रहा था और इस तमाम अर्से में मैं उसके बारे में सोचता रहा था। वह इतना बूढ़ा तो न था, फिर उसके चेहरे पर ये झुर्रियाँ कैसे पड़ीं ? उसकी धँसी आँखों में यह दुःख की परछाईं क्यों थी ? वह इतना चुपचाप क्यों था ? जैसे ज़िन्दगी से बिलकुल थका हुआ और निराश हो, जैसे दुनिया के सारे सुख-दुःख उस पर गुज़र चुके हों और अब वह वहाँ पहुँच गया हो जहाँ न दुःख है, न सुख—सिर्फ़ एक गहरी अथाह निराशा और उदासीनता है......

हाँ, तो मैंने उससे पूछा—"वह क्या है ?" और उसने पीछे मुड़े बिना जवाब दिया—"अभी आप ख़ुद ही देख लेंगे, साहब !" जैसे उसे पहले ही से मालूम हो कि मैं किस अनोखे दृश्य की तरफ़ इशारा कर रहा हूँ। और फिर उसने मेरी किश्ती को धीरे-धीरे उसी तरफ़ खेना शुरू कर दिया जिधर अँधेरे समुद्र में रोशनी बहती हुई जा रही थी। थोड़ी देर के बाद मैंने देखा कि एक और किश्ती चली जा रही है जिसे एक अकेली औरत खे रही है और उस किश्ती में एक लालटेन रखी है जिसकी रोशनी दूर से मैंने देखी थी। इतनी रात को अँधेरे समुद्र में वह कहाँ जा रही थी ? और क्यों ? क्या वह सचमुच की किश्ती थी या केवल मेरी कल्पना की उपज, जो उस जादू-भरे अँधेरे वातावरण में उभर आयी थी।

मैंने देखा कि मेरे माँझी ने अपनी किश्ती को औरत की किश्ती से काफ़ी फ़ासले पर रखा ताकि हम अँधेरे में छिपे रहें और वह हमें न

देख सके, मगर लालटेन की रोशनी के दायरे में वह अच्छी तरह नज़र आ रही थी। एक मैली-सी साड़ी में लिपटी हुई दुबली-पतली औरत थी, उस वक्त उसका चेहरा साड़ी के आँचल में छिपा हुआ था। उसकी किश्ती बीच समुद्र में एक जगह जाकर रुक गयी जहाँ एक डूबे हुए वृक्ष का ठूँठ पानी से बाहर निकला हुआ था। समुद्र में थोड़े-थोड़े फ़ासले पर ऐसे कितने ही ठूँठ आसमान की तरफ़ ऊँगली उठाये खड़े थे, मगर उस वृक्ष पर एक लालटेन बँधी थी जिसमें अब उस औरत ने तेल डाला और फिर दियासलाई जलाकर उसे रोशन किया।

जैसे ही वह लालटेन जली, उसकी रोशनी में मैंने उस औरत का चेहरा देखा, जिस पर से आँचल अब ढलक गया था। वह चेहरा आज तक मुझे अच्छी तरह याद है। मैं उसे कभी नहीं भूल सकता। पीला, बीमार चेहरा, पिचके हुए गाल, धँसी हुई आँखें, बाल परेशान और धूल में अटे हुए। हाथ, जिससे वह लालटेन की बत्ती को ऊँचा कर रही थी, कमज़ोरी से कांप रहा था, लेकिन उस लालटेन की तरह वह चेहरा भी एक अन्तरप्रकाश से चमक रहा था। पतले सूखे ओठों पर मुस्कराहट थी और आँखों में एक अजीब चमक—इन्तज़ार की चमक, आशा की चमक, विश्वास की चमक, ऐसी चमक जो भजन करते समय किसी जोगन की आँखों में हो सकती है—किसी शहीद की आँखों में या किसी प्रेमिका की आँखों में जो अपने प्रेमी से बहुत जल्द मिलने का इन्तज़ार कर रही हो!

ज़रूर वह भी अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में थी। कम-से-कम मुझे इसका यक़ीन हो गया। मैंने देखा कि उसने अपनी किश्ती घुमायी और जिस ख़ामोशी से आयी थी उसी तरह धीरे-धीरे चप्पू चलाती हुई एक टापू की तरफ़ चली गयी जहाँ सितारों की रोशनी में माहीगीरों के झोंपड़े धुँधले-धुँधले नज़र आ रहे थे। अब वह गा रही थी, मलयाली

ज़बान का कोई लोक-गीत, अनजाना मगर फिर भी जाना-पहचाना, जिसके शब्दों को मैं न समझ सकता था, लेकिन ऐसा लगता था जैसे यह गीत मैंने पहले भी किसी और ज़बान में सुना हो।

"वह क्या गा रही है?" मैंने पूछा।

और माँझी ने जवाब दिया—"यह हम लोगों का पुराना गीत है, साहब! औरतें अपने प्रेमियों के इन्तज़ार में गाती हैं—मैं सारी रात दिया जलाये तेरी बाट देखती रहती हूँ—तू कब आयेगा, साजन?"

और मुझे अपने यहाँ का लोक-गीत 'दिया जले सारी रात' याद आ गया जो हमारे यहाँ की औरतें भी ऐसे अवसरों पर ही गाती हैं। क्या सारी दुनिया की स्त्रियों के मन में से एक ही आवाज़ उठती है? मैंने सोचा और फिर माँझी से कहा—"तो इसीलिए वह यहाँ लालटेन जलाने आयी थी कि अगर उसका पति या प्रेमी रात को लौटे तो अँधेरे समुद्र में रास्ता न खो बैठे?"

माँझी ने कोई जवाब न दिया।

मैंने फिर सवाल किया—"क्या इसका प्रेमी आज की रात आने वाला है?"

अँधेरे में माँझी की आवाज़ ऐसे आयी जैसे वह किसी बड़े दुःख से बोझल हो—"नहीं, वह नहीं आयेगा—न आज रात, न कल रात। वह मर चुका है, कई बरस हुए मर चुका है—"

मैं कुछ समझ न सका और हैरान होकर पूछा—"क्या मतलब? क्या इस औरत को नहीं मालूम कि उसका प्रेमी मर चुका है और अब कभी न लौटेगा?"

"वह जानती है शायद! मगर वह मानती नहीं। वह अब तक प्रतीक्षा में है—उसने आशा नहीं छोड़ी—"

"और कई बरस से वह हर रात यहाँ आती है और यह लालटेन जलाती है ताकि उसके प्रेमी की किश्ती अँधेरे में रास्ता पा सके!" मैंने कहा, माँझी से नहीं अपने आप से। अब मुझे अनुभव हो रहा था कि आज मैंने अपनी आँखों से अमर प्रेम की झलक देखी है—ऐसा प्रेम जो किस्से-कहानियों में पढ़ने में आता है, ज़िन्दगी में कभी-कभार ही मिलता है! मेरी कहानी-लेखक की चेतना एकाएक जाग उठी थी—और एक सवाल के बाद दूसरा सवाल करके मैंने माँझी की ज़बानी पूरी कहानी सुन ली।

यह कहानी प्रेम-कहानी भी थी और हिन्दुस्तान के स्वतन्त्रता-संग्राम की दास्तान भी! सन् १९४२ में जब सारे देश में इन्कलाबी तूफ़ान आया, त्रावनकोर की जनता विद्यार्थी, मज़दूर, किसान—यहाँ तक कि माँझी भी अपने प्रजातन्त्र अधिकारों के लिए विदेशी सरकार के विरुद्ध उठ खड़े हुए। कोइलोन के कई हज़ार माँझियों ने हड़ताल की और ऐलान कर दिया कि काम पर नहीं जायँगे, चाहे इस समुद्र का रंग हमारे ख़ून से लाल ही क्यों न हो जाय।

अनपढ़ माँझी की ज़बान से यह जोशीले शब्द सुनकर मैंने पूछा—"माँझियों की तरफ़ से यह ऐलान किसने किया था?"

"उसने, साहब, उसने!"

"उसने किसने?"

"कृष्ण ने, साहब! हम माँझियों का नेता वही तो था! था तो ज़ात का माँझी और हमारी तरह किश्ती ही चलाता था, मगर स्कूल में पढ़ा हुआ था और कई साल त्रिवेन्द्रम शहर में रहा था जहाँ उसने बड़े-बड़े नेताओं के भाषण सुने थे। वह ख़ुद भी नेताओं की तरह भाषण दे लेता था, साहब। बड़ा खूबसूरत और तगड़ा जवान था। कोइलोन से इस टापू तक तीन मील तैरकर अपनी राधा से मिलने

आया करता था।"

"कृष्ण और राधा—राधा और कृष्ण !' यह तो बिलकुल कहानी ही बन गयी," मैंने हैरानी से कहा।

"असल में उसका नाम राधा नहीं है साहब, मगर कृष्ण उसे राधा-राधा कहकर ही पुकारता था, सो और सब भी उसे राधा ही कहने लगे। राधा और कृष्ण—सब माँझी कहते थे ऐसा सुन्दर जोड़ा दूर-दूर तक ढूँढे न मिलेगा। जब उन दोनों की मंगनी हुई तो सभी बहुत ख़ुश हुए, सिवाय..." और इतना कहकर वह रुक गया और कुछ देर फैली हुई ख़ामोशी में सिर्फ़ उसके चप्पू चलने की आवाज़ आती रही।

"सिवाय ?" मैं ने बढ़ावा दिया।

"सिवाय उनके जो ख़ुद राधा को ब्याहना चाहते थे, साहब !" और यह कहकर एक बार फिर वह ख़ामोश हो गया।

"यह राधा..." मैंने बातचीत का सिलसिला फिर चलाने के लिए कहा, "यह राधा, आठ बरस पहले काफ़ी ख़ूबसूरत रही होगी—"

एक ठंडी साँस लेकर वह बोला—"ख़ूबसूरत ? बहुत ख़ूबसूरत, साहब ! आस-पास के गाँवों में क्या, कोइलोन में भी कोई लड़की इतनी सुन्दर नहीं थी। नारियल के पेड़ की तरह लम्बी और दुबली, मछली जैसा सुडौल और चमकदार जिस्म था उसका, और उसकी आँखें—उसकी आँखें ! इस समुद्र की सारी गहराई और सारी ख़ूबसूरती थी उनमें..."

मैंने सोचा, कहानी से हटकर हम कवितामय अत्युक्तियों में फँसते जा रहे हैं। मुझे राधा की सुन्दरता के वर्णन में इतनी दिलचस्पी न थी जितनी कृष्ण के अन्त में। इसलिए मैंने "और फिर क्या हुआ ?" कहकर बातचीत का रुख़ फिर घटनाओं की तरफ़ फेरना चाहा।

"फिर क्या होना था, साहब ? कृष्ण के उस जोशीले भाषण के

बाद तो पुलिस उसके पीछे ही पड़ गयी। उसके लिए बड़े बड़े जाल बिछाये उन्होंने, मगर वह उनके हाथ न आया। छिपकर काम करता रहा। पुलिस वाले दिन-भर उसकी तलाश में मारे-मारे फिरते, लेकिन उन्हें यह नहीं मालूम था कि हर रात को इसी अँधेरे समुद्र में तैरता हुआ वह राधा से मिलने उस टापू तक जाता और सवेरा होने से पहले फिर तैरता हुआ वापस आ जाता। और सब पुलिस का ठट्ठा उड़ाते और कहते, हमारा कृष्ण कभी इन पुलिवालों के हाथ आने वाला नहीं है।"

"तो सारे माँझी कृष्ण की तरफ़ थे ?"

"हाँ, साहब, सभी उसके साथी थे सिवाय उनके..." और एक बार फिर उसकी ज़बान रुक गयी।

"सिवाय किनके ?"

"जो राधा की वजह से उससे जलते थे, साहब—"

"फिर क्या हुआ ?"

"चाँद ढलता गया साहब, और जब अँधेरी रातें आयीं तो हर रात को अपने कृष्ण को रास्ता दिखाने के लिए समुद्र के बीच में राधा यह लालटेन जलाने लगी। हर शाम को वह इसी तरह—जैसे वह आज आयी थी—किश्ती में इस जगह आती और लालटेन जलाकर वापस हो जाती।"

मैंने पीछे मुड़कर जब अँधेरे समुद्र में इस नन्हीं रोशनी को टिम-टिमाते हुए देखा, तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे एक बार फिर बहादुर कृष्ण अपनी मज़बूत बाँहों से पानी को चीरता हुआ अपनी राधा से मिलने चला रहा है।

"और फिर क्या हुआ ?"

एक रात राधा ने लालटेन जलायी, मगर वह बुझ गयी और जब

कृष्ण रात को तैरता हुआ आया तो उसको रास्ता दिखाने के लिए कोई रोशनी न थी।

"क्यों, क्या हुआ? क्या कोई तूफ़ान आया था?"

"हाँ, यही समझिए कि एक तूफ़ान आया, मगर यह तूफ़ान एक बेईमान आदमी के मन में उठा था। उसने अपनी कौम को दग़ा दिया और लालटेन बुझाकर अपने दोस्त की मौत का कारण हुआ।"

"मगर क्यों? कोई इन्सान ऐसी कमीनी और बेकार हरकत कैसे कर सकता है?"

"मुहब्बत के लिए। कम-से-कम वह यही समझता था, साहब! पर उसकी मुहब्बत अंधी थी! मुहब्बत क्या, एक बीमारी थी! प्रेम नहीं, पागलपन था! वह जानता था कि राधा कृष्ण के सिवाय किसी दूसरे की तरफ़ देखना भी पसन्द नहीं करती, तो उसने कृष्ण को—अपने दोस्त को—क़त्ल कर दिया..."

"तो कृष्ण डूबा नहीं, क़त्ल किया गया था?"

"उस रात को लालटेन बुझाना कृष्ण को क़त्ल करने के बराबर ही था, साहब! पर हत्यारे को यह नहीं मालूम था कि कृष्ण की मौत से उसका कोई भला न होगा, बल्कि उसका भयानक जुर्म भूत बनकर उसके मन में हमेशा मँडराता रहेगा, उसका दिन का चैन और रात की नींद उड़ा देगा...।"

अब हमारी किश्ती कोइलोन की बन्दरगाह के पास पहुँच गयी थी और मैं कहानी और उसके सब पात्रों का अन्त जानना चाहता था।

"सो इस रात कृष्ण डूबकर मर गया। फिर क्या हुआ?"

"कृष्ण के बग़ैर माँझियों का एका न रहा। पुलिस के डर से उन्होंने हड़ताल बन्द कर दी।"

"और राधा? जब उसने कृष्ण की मौत की ख़बर सुनी, तो उसने

क्या किया ?"

"आज तक उसे कृष्ण की मौत का यक़ीन ही नहीं आया। बात यह है कि कृष्ण की लाश आज तक समुद्र से नहीं निकली, सो आज तक हर शाम राधा वैसे ही किश्ती में आती है, लालटेन जलाती है और वापस जाकर रात-भर अपने झोंपड़े के सामने बैठी कृष्ण का इन्तज़ार करती रहती है।'

"और उस ग़द्दार का क्या हुआ ? वह पापी जिसने कृष्ण को मौत के घाट उतारा और अपने लोगों और उनके स्वतंत्रता-संग्राम के साथ ग़द्दारी की, उसका क्या अन्त हुआ ? वह अब क्या करता है ?"

माँझी ने मेरे सवाल का कोई जवाब न दिया। पीठ मोड़े, कन्धे और सिर झुकाये वह चुपचाप बैठा चप्पू चलाता रहा, मगर उसकी ख़ामोशी में उसकी दोषी आत्मा की धड़कन थी। उस समय सारे ब्रह्मांड पर सन्नाटा छाया हुआ था—मौत की तरह गहरा सन्नाटा—मगर रेल की सीटी ने मुझे चौंका दिया, मैं उसी रात कोइलोन को विदा कहने वाला था !

किश्ती से उतरने से पहले मैंने एक बार फिर समुद्र की तरफ़ निगाह की। आसमान पर अब हज़ारों सितारे जगमगा रहे थे, मगर एक सितारा अँधेरे समुद्र के बीच में चमक रहा था ! यह राधा की लालटेन थी जो रात-भर उसके कृष्ण का इन्तज़ार करती रहेगी। आज की रात ...और कल की रात...और परसों की रात...राधा के प्रेम की तरह यह सितारा हमेशा चमकता रहेगा ! इसलिए कि यह आशा का सितारा है !

भारत-माता के पाँच रूप

भगवान् ने अपने हाथों से मिट्टी का एक पुतला बनाकर उसमें जान डाली या क्रम-विकास के चक्कर से बन्दर तरक्की करते-करते इन्सान बन गया—यह बहस बरसों से चली आ रही है और आज तक इसका फ़ैसला नहीं हो सका। मगर इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि इन्सान को जन्म देने वाली उसकी माँ ही होती है। नौ महीने तक होने वाले बच्चे को वह अपने ख़ून से सींचती है; ख़ुद मौत से गुज़र कर ज़िन्दगी पैदा करती है। माँ और बच्चे का नाज़ुक रिश्ता अटल और अमर है।

जभी तो इन्सान को जिस चीज़ से भी बहुत लगाव होता है, उसको माँ के रिश्ते से याद करता है। अपने वतन को 'मातृभूमि,' 'मादरेवतन' या 'मदरलैण्ड' कहता है। अपनी यूनिवर्सिटी या कॉलेज को 'अल्मा-मेटर' (Ulma-Mater) 'मादरे तालीमी' या 'ज्ञान-माँ' कहता है। ज़मीन, जो एक प्यार करने वाली माँ की तरह इन्सान को

खाना-कपड़ा देती है, 'धरती माता' कहलाती है।

हम हिन्दुस्तानियों ने तो हज़ारों बरसों से अपने देश की आत्मा ही को 'भारत माता' का नाम दे रखा है।

भारत माता की जय !

वन्दे मातरम् !

इन दोनों कौमी नारों में अपने वतन को माँ कहकर पुकारा गया है। लाखों, बल्कि करोड़ों ने ये नारे लगाये होंगे, मगर शायद ही किसी ने यह सोचा हो कि यह 'भारत-माता' है कौन—या क्या ?

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी किताब 'हिन्दुस्तान की कहानी' में लिखा है कि उन्होंने किसानों के एक समूह से पूछा कि 'भारत-माता' उनकी राय में क्या है ? एक किसान ने जवाब दिया कि यह धरती जिससे हम जन्म लेते हैं, जो हमें खाना-कपड़ा देकर पालती-पोसती है, यही हमारी भारत-माता है। पंडितजी ने किसानों को बताया कि वे सब—यानी हिन्दुस्तान के सारे रहने वाले—ही मिलकर 'भारत-माता' कहलाते हैं।

एक ढंग से यह कहना जरूर ठीक है कि 'भारत-माता' भारत-निवासियों का एकत्रित और सांकेतिक नाम है। फिर भी इस इशारे को नज़र आने वाले ढंग से दिखाना हो तो किसी पुरुष के रूप में नहीं दिखाया जा सकता। 'भारत-माता' तो कोई स्त्री ही हो सकती है। मगर कैसी स्त्री ?

क्या 'भारत-माता' आकाश पर रहने वाली देवी है जो भगवान् की तरफ़ से हमारे देश की देख-भाल के लिए नियुक्त है ? क्या 'भारत-माता' लम्बे बालों और गुलाबी गालों वाली, बढ़िया रेशमी साड़ी पहने और सोने के ज़ेवरों से लदी हुई कोई मोटी-ताज़ी महारानी है, जैसी वह मूर्त्तियों और नाटकों में दिखायी जाती है ?

नहीं, अगर 'भारत माता' इन तैंतीस करोड़ भूखे-नंगों की माँ है, तो वह कोई देवी, अप्सरा या रानी-महारानी नहीं हो सकती। वह तो भारत की करोड़ों ग़रीब माताओं में से ही एक हो सकती है — या शायद उनमें से हर एक हो सकती है। जिस शकुन्तला के बेटे के नाम पर यह देश भारत कहलाता है, वह भी तो एक ऐसी ही माँ थी। ग़रीब, बे-आसरा, बे-सहारा। एक संन्यासी बाप और एक नर्तकी की बेटी। आश्रम में पली हुई, पति की भुलायी हुई, ज़माने-भर की ठुकरायी हुई। फिर भी वह माँ थी—एक ऐसी माँ जिसने अकेली होते हुए भी अपने बेटे को पालने और परवान चढ़ाने के लिए दुनिया की हर मुश्किल और मुसीबत का सामना किया—ग़रीबी, भूख, बनवास।

वह थी पहली 'भारत-माता'!

और उसके बाद? क्या अब हमारे अपने युग में ऐसी माताएँ नहीं हैं जो 'भारत-माता' कहलाने का उतना ही अधिकार रखती हों?

जब कभी मैं 'भारत-माता की जय' का नारा सुनता हूँ, मेरे दिमाग़ में कई सूरतें उजागर होती हैं — कुछ साधारण स्त्रियों की सूरतें। उनमें से कोई भी किसी वजह से भी मशहूर नहीं है। उनकी तस्वीरें तो क्या, उनमें से किसी का नाम भी आज तक पत्रों में नहीं छपा। फिर भी (मेरी राय में) उनमें से हरएक 'भारत माता' कहला सकती है।

खद्दर का कफ़न

तीस बरस पहले की बात है, जब मैं बिलकुल बच्चा था, हमारे पड़ोस में एक ग़रीब बूढ़ी जुलाहिन रहती थी। उसका नाम तो हकीमा था, मगर सब उसे 'हक्को' 'हक्को' कहकर पुकारते थे। उस समय शायद साठ बरस की उम्र होगी उसकी। जवानी ही में विधवा हो गयी थी

और उम्र-भर अपने हाथ से काम करके उसने अपने बच्चों को पाला था। बूढ़ी होकर भी वह सूरज निकलने से पहले उठती थी, गर्मी हो या जाड़ा। अभी हम अपने-अपने लिहाफ़ों में दुबके पड़े होते थे कि उसके घर से चक्की पीसने की आवाज़ आनी शुरू हो जाती। दिन-भर वह झाड़ू देती, चर्खा कातती, कपड़ा बुनती, खाना पकाती, अपने लड़के-लड़कियों, पोतों-दोहतों के कपड़े धोती। उसका घर बहुत ही छोटा-सा था। हमारे इतने बड़े आँगन वाले घर के सामने वह जूते के डिब्बे जैसा लगता था। दो कोठरियाँ, एक पतला-सा बरामदा और दो-तीन गज़ लम्बा-चौड़ा आँगन। मगर वह उसे इतना साफ़-सुथरा और लिपा-पुता रखती थी कि सारे मुहल्ले वाले कहते कि हक्को के घर के फ़र्श पर खीलें बखेर कर खा सकते हैं।

सुबह-सवेरे से लेकर रात गये तक वह काम करती रहती थी। फिर भी जब कभी हक्को हमारे घर आती, हम उसके चेहरे पर रौनक हा पाते। बड़ी हँसमुख थी वह। गहरा साँवला रंग था, जिस पर उसके बगुले जैसे सफ़ेद बाल खूब खिलते थे। उसकी काठी बड़ी मज़बूत थी और मरते दम तक उसकी कमर हमने कभी झुकी हुई नहीं देखी। हाँ, आख़िरी दिनों में उसके कई दाँत टूट चुके थे, जिससे बोलने में पोपलेपन का एक अन्दाज़ आ गया था। बड़े मज़े-मज़े की बातें करती थी। जब हम बच्चे उसे घेर लेते तो वह हमें तीन शाहज़ादों, सात शाहज़ादियों, राक्षसों और परियों की कहानियाँ सुनाती। वह पर्दा नहीं करती थी। अपना सारा कारोबार ख़ुद चलाती। हक्को पढ़ी-लिखी बिलकुल नहीं थी। न उसने पुरुषों और स्त्रियों की बराबरी के असूल का ज़िक्र सुना था, न लोकराज और समाजवाद का। फिर भी हक्को न किसी पुरुष से दबती थी, न किसी अमीर-रईस, अफ़सर या दारोग़ा से डरती थी।

हक्को ने उम्र-भर मेहनत-मज़दूरी करके अपने बाल-बच्चों के लिए थोड़ा-बहुत पैसा इकट्ठा किया था। उसने बैंक का तो नाम भी न सुना था। उसकी सारी पूँजी (जो शायद सौ दो सौ रुपये हो) चाँदी के गहनों की शक्ल में उसके कानों, गले और हाथों में पड़ी हुई थी। चाँदी की बालियों से झुके हुए उसके कान मुझे अब तक याद हैं। ये गहने उसे जान से भी ज़्यादा प्यारे थे क्योंकि यही उसके बुढ़ापे का सहारा थे। मगर एक दिन सब मुहल्लेवालों ने देखा कि हक्को के कानों में न बालियाँ रहीं और न उसके गले में हँसली, न हाथों में कड़े और चूड़ियाँ। फिर भी उसके चेहरे पर वही पुरानी मुस्कराहट थी और कमर में नाम को भी झुकाव नहीं था।

हुआ यह कि उन दिनों महात्मा गांधी, मुहम्मदअली शौकत अली के साथ पानीपत आये। हमारे नाना के मकान में उन्होंने कई भाषण दिये—असहयोग और स्वराज्य के बारे में। हक्को भी एक कोने में बैठी उनकी बातें सुनती रही। बाद में जब चन्दा इकट्ठा किया गया, तो हक्को ने अपने सारे गहने उतारकर उनकी झोली में डाल दिये और उसकी देखा-देखी और औरतों ने भी अपने-अपने गहने उतारकर चन्दे में दे दिये।

उस दिन से हक्को 'ख़िलाफ़ती' हो गयी। हमारे यहाँ जाकर नाना अब्बा से ख़बरें सुना करती और अक्सर पूछती—"यह अँग्रेज़ का राज कब ख़त्म होगा?" ख़िलाफ़त कमेटी या काँग्रेस के जल्से होते तो उनमें बड़े चाव से जाती और अपनी समझ-बूझ के अनुसार राज-नैतिक आन्दोलनों को समझने की कोशिश करती। मगर उम्र-भर की मेहनत से उसका शरीर खोखला हो चुका था; पहले आँखों ने जवाब दिया और फिर हाथ-पाँव ने हक्को का घर से निकलना बन्द कर दिया, फिर भी उसने चर्खा न छोड़ा। हाथों से टटोलकर आँखों बिना

ही वह कपड़ा भी बुन लेती। बेटों-पोतों ने काम करने को मना किया तो उसने कहा, वह यह खद्दर अपने कफ़न के लिए बुन रही है। फिर हक्को मर गयी। उसकी आख़िरी वसीअत यह थी कि 'मुझे मेरे बुने हुए खद्दर का कफ़न देना। अगर अँग्रेज़ी लट्ठे का दिया तो मेरी आत्मा को कभी चैन न मिलेगा।' उन दिनों कफ़न हमेशा लट्ठे ही के होते थे। खद्दर का पहला कफ़न हक्को ही को मिला।

हक्को का जनाज़ा उठा तो उसके कुछ रिश्तेदार और दो-तीन पड़ौसी थे, बस। न जुलूस, न फूल, न झंडे—बस एक खद्दर का कफ़न!

काश, उस समय मुझे इतनी समझ होती कि मैं कम-से-कम एक नारा ही लगा देता—'भारत माता की जय!'

मनु महाराज की हार

मनु महराज ने इन्सानियत को चार भागों में बाँटा। ब्राह्मण, जो ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए; क्षत्रिय, जो ब्रह्मा की भुजाओं से पैदा हुए; वैश्य, जो ब्रह्मा के उदर से पैदा हुए; शूद्र, जो ब्रह्मा के पैरों से पैदा हुए—और हमेशा दूसरी जातियों के पैरों तले रौंदे जाते रहे! और फिर इन सबसे अलग और शूद्रों से भी अधिक अपवित्र थे म्लेच्छ—दूसरे धर्मों को मानने वाले, जिनके लिए मनु महाराज के समाज में कोई जगह नहीं थी। मनु के युग में यह कार्य-विभाजन समाज की उन्नति के लिए शायद लाभदायक था और यह भी हो सकता है कि विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध नफ़रत के साथ-साथ घृणा का भाव पैदा करना भी हिन्दू समाज को जीवित रखने के लिए ज़रूरी था। मगर पिछले कई हज़ार वर्ष में जात-पात की बाँट विवेक-रहित होती गयी और पत्थर की सिलों की तरह सख्त हो गयी। दुनिया बदलती रही ख़ानाबदोशी से खेती-बाड़ी, खेती-बाड़ी से ज़मींदारी और जागीर-

दारी, जागीरदारी से बादशाहत, बादशाहत से विदेशी साम्राज्य और विदेशी साम्राज्य से स्वराज्य ! एक दौर के बाद दूसरा दौर आता रहा, मगर जात-पात का शिकंजा पहले की तरह ही कसा रहा और आज भी बहुत कुछ कसा हुआ है।

मगर क्या 'भारत-माता' जो सब हिन्दुस्तानियों की माँ है, वह भी अपने बच्चों में इस बाँट और भेद-भाव को मानती है ? क्या वह भी ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान से ऊँच-नीच बरतती है— चाहे कोई बच्चा गोरा हो या काला, ख़ूबसूरत हो या बदसूरत, बुद्धिमान हो या मूर्ख। मगर कहते हैं कि 'भारत माता' तो अनपढ़ है, पुराने रीति-रिवाजों को मानती ही नहीं, पूजती भी है। क्या यह हो सकता है कि वह मनु महाराज के बताये हुए पुराने मार्ग को छोड़कर इन्सानी बिरादरी और बराबरी का रास्ता अपना सके ?

जब कभी मैं इन सवालों के बारे में सोचता हूँ, मुझे अपने दोस्त की दादी याद आ जाती है जो पूना में रहती है। यह अस्सी बरस की बूढ़ी ब्राह्मणी ज़माने की बहुत-सी ऊंच-नीच देख चुकी है। उसके झुर्रियों-भरे चेहरे पर एक अनोखी शांति है, जैसे वह जीवन का आख़िरी भेद भी पा चुकी हो और अब उसके दिल में मौत का डर भी न रहा हो। न जाने कितने वर्षों से वह अपना वैधव्य अपने पोते-पोतियों की सेवा करके बिताती रही है। अब उसके हाथ-पाँव में बहुत काम करने की ताकत नहीं रही, फिर भी इस बुढ़ापे में वह घर में सबसे पहले उठती है, ठंडे पानी से स्नान करती है और फिर पूजा-पाठ में लग जाती है।

दादी सिवाय मराठी के कोई दूसरी भाषा नहीं जानती। उसके बचपन में लड़कियों को पढ़ना-लिखना नहीं सिखाया जाता था। उसने न कभी अख़बार पढ़ा है, न रेडियो सुना है, न कभी किसी जल्से में

किसी नेता का भाषण सुना है। उसने कभी 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' का नारा नहीं लगाया, फिर भी इन्कलाब ख़ुद दादी को ढूँढता-ढाँढता पूना की अँधेरी और तंग गलियों में से होता हुआ दादी के घर आ पहुँचा।

हुआ यह कि दादी के पोतों में से एक लड़का सन् १६४२ के आन्दोलन में पूना के नौजवान सोशलिस्टों के साथ मिल गया। फिर क्या था? दादी का छोटा सा घर, जिसमें सदियों से सिवाय भगवान-भजन के और कोई आवाज़ सुनायी न दी थी, अब 'अंडर-ग्राउंड' नौजवान क्रान्तिकारियों की खुसर-पुसर से गूँज उठा। नये-नये शब्द दादी के कानों में पड़ने लगे—नये शब्द और नये विचार! आज़ादी, इन्कलाब, आन्दोलन, साम्राज्य, स्वराज्य, लोकराज!

दादी का घर एक तंग गली में है, इसलिए साज़िशी कार्यों के लिए बहुत काम का था। कितने ही 'अंडर-ग्राउंड' क्रान्तिकारी वहाँ आकर ठहरने लगे—नयी सूरतें, जिनके कोई नाम नहीं थे, कोई जात नहीं थी, सिवाय इसके कि सब इन्कलाबी बिरादरी में थे, रात को अँधेरे में आते और सबेरे सूरज निकलने से पहले चले जाते। दो-चार पुलिस से बचने के लिए ऊपर के कमरे में कई-कई दिन बन्द रहते। दादी उनकी सेवा भी उसी तरह करती जैसे अपने पोतों-नवासों की। उनके लिए चाय बनाती, खाना पकाती, सोने के लिए बिस्तर देती और हर रोज़ पूजा के बाद उनकी रक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना करती—क्योंकि दादी के अनपढ़ दिमाग़ में भी यह बात बैठ गयी थी कि ये नौजवान अपनी जान को हथेली पर रखकर देश को आज़ाद कराने के लिए लड़ रहे हैं।

दादी अनपढ़ है, मगर मूर्ख नहीं। वह बोलती कम है, लेकिन सुनती सब-कुछ है और सोचती बहुत है। जल्द ही उसे मालूम हो गया

कि उसके पोते के साथियों में सब ब्राह्मण ही नहीं हैं, नीच जातियों वाले भी हैं। शूद्र भी हैं। और-तो-और मुसलमान भी हैं! मगर न जाने क्यों दादी ने उनसे कोई छूतछात न बरती। चाय देते वक्त यह पूछना भी ज़रूरी न समझा कि प्याली किसी ब्राह्मण के ओठों से लगेगी या शूद्र के या मुसलमान म्लेच्छ के। न जाने दादी को क्या हो गया था कि वह मनु महाराज के क़ायदे-क़ानून को यों निडरता से तोड़ने को तैयार हो गयी थी?

जब लड़के सो जाते तो दादी रात-भर खिड़की के पास चौकन्नी बैठी रहती कि पुलिस की ज़रा-सी भी आहट हो तो उन्हें होशियार कर दे। और एक दिन पुलिस आ ही पहुँची। आधी रात के बाद, अँधेरे में मौक़ा देखकर। सब सो रहे थे, मगर दादी जाग रही थी। बाहर सड़क पर पुलिसवालों की लारी के रुकने की आवाज़ सुनते ही उसने अपने पोते और उसके सब साथियों को जगा दिया। इससे पहले कि पुलिस घर में घुस सके, वे सब बराबर के घर की छत पर फाँद गये और वहाँ से छतों-छतों होते हुए ख़तरे के इलाके से बाहर निकल आये। जब पुलिस ने घर की तलाशी ली तो वहाँ सिवाय एक बूढ़ी पोपली आधी अंधी दादी के और किसी को न पाया, मगर फ़र्श पर अभी तक कई कम्बल बिछे हुए थे। पुलिस वाले दादी को थाने ले गये। बुढ़ापे में उसे यह अपमान भी सहना पड़ा। वहाँ उससे घंटों सवाल किये गये। तुम्हारे घर में कौन-कौन ठहरा हुआ था? वे क्या बातें करते थे? तुम्हारा पोता कहाँ है? उसके साथी कौन हैं? मगर दादी ने हर सवाल का जवाब बड़े भोलेपन से यही दिया—"मुझे नहीं मालूम। मैं अनपढ़ बुढ़िया ये बातें क्या जानूँ?" तंग आकर पुलिस ने दादी को छोड़ दिया। मगर दादी की ज़बान से एक शब्द भी न निकला जिससे क्रान्तिकारियों का पता चल सके।

दादी अब भी पूजा-पाठ करती है, लेकिन अब वह छूतछात नहीं बरतती। पिछले बरस जब उसके उसी सोशलिस्ट पोते का ब्याह हुआ और इस ब्याह में शामिल होने के लिए उसके कई मुसलमान दोस्त भी आये, उसके घर में ठहरे—और शादी की रस्मों में शरीक हुए, तो कई कट्टर विचारों के रिश्तेदारों ने इस ब्याह में आने से साफ़ इन्कार कर दिया। दादी से भी कहा गया कि वह अपनी बुज़ुर्गी के ज़ोर से पोते को मजबूर करे कि म्लेच्छों को अपने ब्याह की रस्मों में न बिठाये, मगर दादी ने उनकी एक न मानी और ब्याह के अगले दिन सवेरे मैंने देखा कि दादी बैठी मेरी बीबी को चाय पिला रही है और अपनी पोती के ज़रिए बातें कर रही है—वैसी ही बातें और बिलकुल उसी तरह जैसी मेरी दादी किया करती थी।

और उस दिन से मैं अक्सर सोचता हूँ कि जब हिन्दुस्तान के स्वतन्त्रता-संग्राम का इतिहास लिखा जायगा, तो क्या उसमें इस बेनाम दादी का नाम भी होगा? जिसने आज़ादी और इन्क़लाब के लिए अपने सदियों पुराने विचारों और असूलों को त्याग दिया? और फिर मैं सोचता हूँ कि इस दुबली, सूखी, पोपली, बूढ़ी स्त्री में वह कौन-सी शक्ति है कि मनु महाराज का मुक़ाबिला करने से भी नहीं डरती? क्या इसलिए कि वह 'भारत-माता' है और 'भारत-माता' मनुस्मृति से कहीं ज़्यादा अटल-अमर है।

'हिन्दोस्ताँ हमारा'

हम उत्तर में रहने वाले दक्षिण भारत के बारे में बहुत-सी ग़लत धारणाएँ रखते हैं—जैसे यह कि सारे दक्षिण भारत में 'मद्रासी' बसते हैं, जो मद्रासी भाषा बोलते हैं और वे सब इतनी कड़ी छूतछात बरतते

हैं कि शूद्र की छाया भी किसी ब्राह्मण पर पड़ जाय तो शूद्र को पीटा जाता है और ब्राह्मण को फ़ौरन स्नान करना पड़ता है।

अब मेरे आश्चर्य को सोचिए, जब मैं और मेरी बीवी मद्रास पहुँचे और मेरे एक नौजवान दोस्त ने मिलते ही मुझसे कहा—"आप खाना हमारे यहाँ खा रहे हैं।" मैं जानता था कि मेरा दोस्त ब्राह्मण होते हुए भी जात-पात को नहीं मानता, मगर उसके माँ बाप? और ख़ासकर उसकी माँ? क्या वह यह सहन करेगी कि दो 'म्लेच्छ' उनके यहाँ खाना खायँ? फिर हमने सोचा, शायद हमें चौके के बाहर अलग बैठाकर खाना खिलाया जायगा। यह सब सोचते हुए हम उनके घर पहुँचे। घर में सिर्फ़ मेरे दोस्त की दो बहनें थी और उसकी माँ; पिता कहीं बाहर गये हुए थे। मेरी बीवी इस ख़याल से सहमी और घबरायी हुई थी कि इन कट्टर 'ब्राह्मणों' के यहाँ न जाने कैसा सलूक हो, लेकिन वहाँ पहुँचते ही हमारा स्वागत इतनी सहृदयता से हुआ कि हम अपने पिछले सन्देह भूल गये।

हम दस दिन मद्रास में ठहरे और हर रोज़ दोनों वक्त खाना इसी ब्राह्मण घराने में खाते रहे। वह कोई 'विलायत-पलट' घराना नहीं था जहाँ अँग्रेज़ी फ़ैशन से मेज़-कुर्सी पर खाना खाया जाता हो; ज़मीन पर बैठकर केले के पत्तों या ताँबे की थालियों में खाना खाते थे। जब तक हम वहाँ ठहरे, हमसे किसी ढंग की भी छूतछात नहीं की गयी। हम चौके-रसोई, जहाँ चाहे जा सकते थे। मेरे दोस्त की माँ ने मेरी बीवी को जैसे अपनी बेटी बना लिया और बहुत जल्द हम इस तरह घुल-मिल गये कि हम उसी परिवार के सदस्य मालूम होने लगे। इस ब्राह्मण घराने में आज़ाद-ख़याली और सहनशीलता कहाँ से आयी? यह सच है कि मेरे दोस्त के पिता गाँधी जी के पुराने साथियों में से हैं। उन्होंने बीस बरस हुए डेढ़-दो हज़ार की नौकरी छोड़कर गाँधी जी के साथ समाज-

सुधार का काम करना शुरू किया था। तब से यह परिवार सब राष्ट्रीय आन्दोलनों में आगे-आगे रहा है। मगर इस उदारता और प्रगतिशीलता की नींव सिर्फ़ राष्ट्रीय चेतना पर क़ायम न थी। ये लोग पिछले तीस बरस में दिल्ली, कलकत्ते, जमशेदपुर, इलाहाबाद, अलमोड़ा, वर्धा, बम्बई और न जाने कहाँ-कहाँ रहे थे। उनकी अपनी भाषा तामिल है, मगर मेरे दोस्त की माँ बचपन में मालाबार में रही थीं इसलिए मलयालम भी बोल लेती हैं। यू० पी० में बरसों रहने के कारण सब घर वाले साफ़ हिन्दुस्तानी बोलते हैं और बंगाली तो बंगालियों ही की तरह बोलते हैं। एक बेटी का ब्याह एक बंगाली फ़िल्म डायरेक्टर से हुआ है। दूसरी का ब्याह एक बंगाली पत्रकार से। बेटियों के बच्चे, जो बम्बई में रहते हैं, तामिल, बंगाली, हिन्दुस्तानी, गुजराती, मराठी और अँग्रेज़ी छः भाषाओं की खिचड़ी बोलते हैं और घर में खाना तो पँचमेल पकता ही है। यह घराना सचमुच दावा कर सकता है कि 'हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा!'

इस घराने की सबसे दिलचस्प व महत्वपूर्ण सदस्या इनकी माँ हैं। यह देवी, जो किसी ज़माने में बहुत सुन्दर रही होंगी, अब से तीस बरस पहले कॉलेज में पढ़ चुकी हैं। अँग्रेज़ी बोलती ही नहीं, लिख-पढ़ भी सकती हैं; तामिल में लेख और कविताएँ लिखती हैं। अपने सब बेटों और बेटियों को उन्होंने ऊँची शिक्षा दिलवायी है। कभी उनके पति को अठारह सौ रुपये मासिक वेतन मिलता था। वह शानदार बँगले में रहती थीं और फ़र्स्ट-क्लास में यात्रा किया करती थीं। अब वह सिर्फ़ एक कमरे में अपने सारे ख़ानदान समेत रहती हैं, खद्दर की साड़ी और टूटे चप्पल पहनती हैं; खाना अपने हाथ से पकाती हैं और सब बच्चों और उनके मेहमानों को खिला लेती हैं, तब जाकर खुद टुकड़ा तोड़ती हैं। मगर उन्होंने गृहस्थी में पड़कर अपने दिमाग़ की खिड़कियों को

बन्द नहीं कर लिया। अँग्रेज़ी, तामिल और हिन्दी की किताबें और पत्र बराबर पढ़ती हैं; राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर राय रखती हैं और बहस कर सकती हैं; राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्मेलनों में जाती हैं; कला और संगीत की समझ रखती हैं। अपनी दोनों बेटियों को उन्होंने क्लासिकल गान और नाच की शिक्षा दिलवायी है। फ़िल्म देखती हैं और उन पर कड़ी आलोचना भी करती हैं। उन्होंने और उनके पति ने सुख-आराम के जीवन को राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए त्याग दिया, मगर उनके स्वभाव में वह रूखापन और कड़वाहट ज़रा नहीं जो अक्सर देश-भक्तों में मिलती है—जैसे वे अपनी कुरबानी और त्याग का ऐलान कर रहे हों। वह, उनके पति और उनका बेटा, सब कई बार जेल जा चुके हैं, फिर भी वह अपनी जेल-यात्रा का डंका नहीं पीटतीं। गरीबी और तंगी का जीवन बिताते हुए भी वह बहुत हँसमुख हैं, हँसती और हँसाती रहती हैं। जीवन के हर पहलू में दिलचस्पी लेती हैं। साठ के लगभग उम्र होने को आयी, बालों में सफ़ेदी बढ़ती जा रही है और चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ती जा रही हैं, मगर उनका मन अब भी जवान है और ज़माना उनके चेहरे से वह भोली मुस्कुराहट नहीं मिटा सका जो जवानी में उनकी सबसे सुन्दर विशेषता थी।

एक दोपहर को मुझे याद है कि हम सब उनके कमरे में फ़र्श पर लेटे सो रहे थे। गर्मी के दिन थे और उस कमरे में बिजली का पंखा नहीं था। मेरी आँख खुली तो मैंने देखा कि वह ऐनक लगाये तामिल की एक किताब पढ़ रही हैं और साथ-साथ हमें पंखा भी झलती जाती हैं। ख़ुद उनके चेहरे पर पसीने की बूँदे चमक रही थीं। उनका दिमाग़ किताब में था और दिल अपने बच्चों में। अपनी उन्हें कोई परवाह न थी। मैंने सोचा कि अभी थोड़ी देर में यह उठेंगी और किताब रखकर हमारे लिए चाय बनायँगी, फिर बच्चों को नहलायँगी। और मुझे

बड़ा अचम्भा हुआ कि कैसे यह इतना काम करती हैं और फिर भी इनके माथे पर कभी बल नहीं आता, कैसे यह एक बार अमीरी की ज़िन्दगी बसर करने के बाद इस ग़रीबी के जीवन को इतनी हँसी-खुशी निभा रही हैं, कैसे वह एक ही वक्त किताब भी पढ़ सकती हैं और पंखा भी झल सकती हैं, रोटियाँ भी पका सकती हैं और राजनैतिक विचारों पर बहस भी कर सकती हैं !

और फिर मैंने सोचा कि यह तो 'भारत-माता' का नया और बड़ा अनोखा रूप है—जिसके एक हाथ में किताब है और दूसरे में पंखा, जिसके बालों में गुलाब के फूल हैं और पैरों में काम काज की धूल, जिसकी आँखों में बंगाल का जादू है और ओठों पर मालाबार की मुस्कान, जिसके शरीर में राजस्थान का लोच है और रंगत में पंजाब की सुर्खी, जिसके चेहरे पर बुढ़ापे की गम्भीरता है और जिसके दिल में जवानी की हिम्मत और ज़िन्दगी और शरारत है।

शरणार्थी

अगस्त-सितम्बर, सन् ४७, के तूफ़ान ने एक करोड़ के लगभग इन्सानों को सूखे पत्तों की तरह उड़ाकर कहीं-से-कहीं जा गिराया। पेशावरवाले बम्बई, दिल्ली वाले कराची, कराचीवाले बम्बई, लाहौर-वाले दिल्ली, रावलपिंडीवाले आगरे, आगरेवाले लायलपुर और लायलपुरवाले पानीपत पहुँच गये। उम्र भर के साथी और दोस्त और पड़ोसी अलग हो गये। पुराने घराने तितर-बितर हो गये। भाई-से-भाई बिछुड़ गया। घरवाले बेघर हो गये, लखपति कंगाल हो गये। चार दीवारी में पली हुई जवानियाँ बिकने के लिए बाज़ारों में आ गयीं।

इस तूफ़ान ने अक्तूबर, सन् ४७, में दो बूढ़ी औरतों को उनके

अपने-अपने पुराने वतन में उठाकर हज़ारों मील दूर बम्बई में ला फेंका। इनमें से एक मेरी अम्मा थीं और दूसरी मेरे एक सिक्ख दोस्त की माँ। एक पूर्वी पंजाब से आयी, दूसरी पश्चिमी पंजाब से। दोनों शायद एक ही दिन बम्बई पहुँचीं। मेरी अम्माँ पानीपत से रातों रात मिलिटरी ट्रक में दिल्ली आयी, और वहाँ से हवाई जहाज़ से बम्बई आयी, क्योंकि इन दिनों रेल का सफ़र ख़तरनाक था। मेरे दोस्त की माँ बड़ी मुसीबतें झेलने के बाद पश्चिमी पंजाब के क़त्ले-आम से गुज़रती हुई रावलपिंडी से अमृतसर पहुँची, अमृतसर से दिल्ली और वहाँ से बम्बई।

मैं अपनी माँ को 'अम्माँ' कहता था। मेरा सिक्ख दोस्त अपनी माँ को 'माँजी' कहता है। जब वे दोनों यहाँ आयीं, तो मुझे मालूम हुआ कि इन दोनों में बस यही एक फ़र्क था।

माँजी रावलपिंडी में अपने मकान में रहती थीं। ऊपर ये लोग ख़ुद रहते थे, नीचे दूकानें थीं, जो किराये पर चढ़ी हुई थीं। किरायेदार ज़्यादातर मुसलमान थे। सारा मुहल्ला ही मुसलमानों का था। सरदारजी और माँजी दोनों अपने पड़ोसियों में बहुत लोकप्रिय थे। सबसे ख़ानदानी मेल-जोल बचपन से चला आ रहा था। हँसी-ख़ुशी में एक दूसरे के शरीक होते थे। मुहल्ले-भर की मुसलमान औरतें सरदारनी को 'बहनजी' कहती थीं और लड़कियाँ 'माँजी' या 'काकी' कहकर पुकारती थीं।

रावलपिंडी माँजी की दुनिया थी। वह कभी वहाँ से बाहर न निकली थीं। उनका बेटा पहले लाहौर में, फिर कलकत्ते और फिर बम्बई में काम करता था, पर माँजी के लिए ये सब शहर किसी दूसरी दुनिया में थे। उनका बस चलता तो बेटे को कहीं न जाने देतीं और अपने पास रावलपिंडी ही में रखतीं। वह अक्सर सोचतीं कि 'भला

रुपया कमाने से क्या फ़ायदा, जब वहाँ उसे न खाने को असली घी मिलता है, न पीने को शुद्ध दूध, न खूबानियाँ, न बग्गू गोशे, न सेब, न अंगूर।' घर में भैंस थी, दस सेर पक्का दूध देती थी। दही बिलोकर मक्खन निकालने के बाद छाछ सारे मुहल्ले में बँटती और सरदारनी को सब दुआएँ देते। मगर वह खुद अपने बेटे को याद करके रुआँसी हो जातीं कि न जाने उसे बम्बई में ढंग का खाना भी मिलता है या नहीं!

रावलपिंडी के पास ही उनकी थोड़ी-बहुत पैतृक ज़मीन भी थी। खेतों से फ़सल पर काफ़ी अनाज आ जाता। दूध, दही, घी तो घर का था ही। थोड़ी-बहुत आमदनी दुकानों से हो जाती, कुछ रुपया बेटा भेज देता। जून में जब देश के बटवारे और पाकिस्तान बनने की खबरें छपीं, तब भी माँजी ज़रा न घबरायीं। उन्हें राजनैतिक झगड़ों से क्या काम? हिन्दुस्तान हो या पाकिस्तान, उनका वास्ता तो अपने पड़ोसियों से था। सो उनसे हमेशा के अच्छे सम्बन्ध चले आ रहे थे। लाख साम्प्रदायिक झगड़े हुए, माँजी और उनके घरवालों पर कोई आँच न आयी। लेकिन इस बार तो बहुत ही भयानक आग भड़की थी। रावलपिंडी में हिन्दुओं और सिक्खों की जान खतरे में थी। पर माँजी फिर भी शांत रहीं। बेटे ने लिखा, फ़ौरन बम्बई चली आओ वे रावलपिंडी छोड़ने पर राज़ी न हुईं। उनके बहुत से रिश्तेदार और जाननेवाले पूर्वी पंजाब या दिल्ली चले गये, पर माँजी अपने घर से न हिलीं। जब भी कोई उनसे कहता कि यहाँ खतरा है, हिन्दुस्तान चली जाओ, वह यही जवाब देतीं कि हमें कौन मारेगा? इस मुहल्ले में चारों तरफ़ अपने ही बच्चे तो रहते हैं!

और फिर पूर्वी पंजाब से आये हुए मुसलमान शरणार्थियों के आने के बाद रावलपिंडी की हालत इतनी बिगड़ गयी कि उनके मुसलमान

पड़ोसियों में से भी दो-चार ने सलाह दी कि आप किसी सुरक्षित जगह पर चली जायँ, नहीं तो हमें आपकी जान का ख़तरा है। मगर कई ऐसे भी थे, जो उनसे यही कहते रहे कि आप न घबरायँ, हम आपकी रक्षा अपनी जान देकर भी करेंगे। एक मुसलमान दर्ज़ी, जो उनका किरायेदार था और जिसका आना-जाना सरदारजी के यहाँ था, वह तो बहुत ही रोया-गिड़गिड़ाया कि आप लोग न जायँ।

पूर्वी पंजाब से, जो मुसीबत के मारे आये थे, उनमें से बहुत से माँजी के घर के पास ही ठहरे हुए थे। उनकी बुरी हालत देखकर माँजी से न रहा गया और वह उन्हें खाना, कपड़े, ज़मीन पर बिछाने के लिए दरियाँ, रात को ओढ़ने के लिए रज़ाइयाँ इत्यादि भिजवाती रहीं और उनके मन में कभी भी यह विचार न गुज़रा कि ये मुसलमान हैं, सिक्खों के दुश्मन कहलाते हैं, इनकी मदद न करनी चाहिए—और न यह ख़याल आया कि शायद दो-चार दिन बाद वह ख़ुद भी इसी हालत में होंगी।

उन्हीं दिनों उनके मकान के सामने सड़क पर कुछ मुसलमान फ़सादियों ने एक हिन्दू ताँगेवाले को छूरा भोंककर मार डाला। मैंने यह घटना माँजी की ज़बान से सुनी है—"बेटा, ताँगेवाला तो फिर भी हिन्दू था, पर घोड़े का न तो कोई धर्म होता है, न जात-पात। पर उन्होंने उस बेचारे जानवर को भी न छोड़ा। छुरे भोंक-भोंककर उसे भी मार डाला। ऐसा लगता था जैसे उनके सिरों पर ख़ून सवार हो, जैसे वे अब इन्सान न रहे हों, कुछ और हो गये हों।" उसके बाद माँजी को भी फ़ैसला करना पड़ा कि अब उनका और उनके घरवालों का वहाँ रहना ख़तरे से ख़ाली नहीं।

सो वह रावलपिंडी का मकान और उसमें अपना सारा सामान छोड़कर चली आयीं, सिर्फ़ ताला लगाकर। यह सोचती हुई कि हमेशा

के लिए थोड़े ही जा रही हूँ, यह पागलपन कभी तो कम होगा, तब वापस आ जायँगे, लेकिन दिल्ली पहुँचते-पहुँचते उनकी बूढ़ी आँखों ने वह कुछ देखा कि रावलपिंडी वापस जाने का विचार करना असम्भव हो गया। जब तक वह बम्बई पहुँची, रावलपिंडी की याद उनके दिल में एक कसक बनकर रह गयी।

रावलपिंडी में वह छः बड़े-बड़े कमरों वाले घर में रहती थीं; बम्बई में वह और उनके पति अपने बेटे के पास रहते हैं—तीनों एक छोटी-सी कोठरी जैसे कमरे में, जिसके एक ओर धोबी रहता है, दूसरी ओर कोयले की दूकान है। पीछे एक छोटी-सी कोठरी है, जो एक साथ रसोई, गुसलख़ाना और स्टोर-रूम का काम देती है। जब मेरा दोस्त यहाँ अकेला रहता था, यही कमरा एक 'कबाड़ख़ाना' लगता था जहाँ पुराने अख़बारों, बिन-धुले बर्तनों और मैले कपड़ों के ढेर हर जगह लगे रहते थे। अब आप वहाँ जाइए तो इतनी तंग जगह में भी हर चीज़ साफ़-सुथरी और ठिकाने से लगी हुई मिलेगी। फ़र्श साफ़ चमकता हुआ—क्या मजाल कि कहीं मिट्टी या धूल का एक भी ज़र्रा नज़र आ जाय। अपने बेटे और पति के लिए माँजी अपने हाथ से खाना पकाती हैं और कोई मिलने-जुलने वाला आ जाय तो वह कुछ खाये-पीये बिना वहाँ से नहीं जा सकता। माँजी का घर छूट गया है, सामान छूट गया है, ज़मीन और घर की मालकिन से वह शरणार्थी हो गयी हैं; मगर उनकी मेहमानदारी नहीं गयी।

माँजी का रंग गोरा है, क़द छोटा-सा, बाल पहले खिचड़ी थे अब रावलपिंडी से आने के बाद सफ़ेद हो गये हैं। बीमार भी रहती हैं, मगर कभी बेकार नहीं बैठतीं। कोई-न-कोई काम-काज करती ही रहती हैं। बेटे के लिए खाना पकाना हो, पति के कपड़ों में पैवंद लगाना हो या किसी मेहमान के लिए चाय या लस्सी बनानी हो—हर काम

अपने हाथ से करती हैं। उनको देखकर आप कभी नहीं कह सकते कि वह इतनी मुसीबतें झेली हुई शरणार्थी हैं। 'वह कभी मुसलमानों को बुरा नहीं कहतीं, जिनके कारण उन्हें बेघर होना पड़ा; और अपने मुसलमान पड़ोसियों का ज़िक्र अब भी बड़ी मुहब्बत से करती हैं। उन्हें ख़त लिखवाती रहती हैं और उनका जवाब आने पर बहुत ख़ुश होती हैं। जब वह मेरी अम्माँ से पहली बार मिलीं तो दोनों एक-दूसरे के गले लग गयीं और कुछ कहने-सुनने से पहले कई मिनट तक दोनों अपने-अपने वतन की याद करते हुए चुपचाप रोती रहीं और फिर एक-दूसरे को इस तरह तसल्ली देती रहीं जैसे कि दोनों सगी बहनें हों और एक सिक्ख और एक मुसलमान औरत को यों रोते देखकर मुझे ऐसा लगा कि मुसलमानों और सिक्खों की तीन साल की नफ़रत इन दोनों के आँसुओं से धुल गयी है।

माँजी शरणार्थी हैं, मगर वह अपने दुःख और नुक़सान का ऐलान नहीं करतीं। हाँ, कभी-कभी एक हल्की-सी ठंडी साँस लेतीं हैं और कहती हैं—"बेटा! तुम्हारा बम्बई लाख बड़ा शहर हो, मगर हम तो कभी रावलपिंडी को नहीं भूल सकते। वे खूबानियाँ, वे बग्गू गोशे..."

फिर वे चुप हो जाती हैं और उनकी धँसी हुई धुँधली-धुँधली आँखें आँसुओं से डबडबा जाती हैं और ऐसा लगता है कि इस शरणार्थी भारत-माता के दिल में गुस्से और नफ़रत के लिए कोई जगह ही नहीं है; सिर्फ़ पुरानी यादें हैं जो उसके छूटे हुए वतन से सम्बन्धित हैं—वे यादें जो बग्गूगोशे की तरह मुलायम और नाज़ुक हैं और खूबानियों की तरह ख़ूबसूरत!

नफ़रत की मौत

हर एक इन्सान के लिए उसकी अपनी माँ दुनिया में सबसे

महत्त्वपूर्ण और सबसे प्यारी होती है। इसलिए इन भारत-माताओं में अगर मैं अपनी स्वर्गीया माँ का नाम भी शामिल करूँ तो कोई आश्चर्य न होना चाहिए। मेरी जगह कोई भी होता तो वह इस सिलसिले में अपनी माँ का ज़िक्र ज़रूर करता और करना भी चाहिए। इसलिए कि सबसे पहले अपनी माँ की सूरत ही में तो हम भारत-माता की शान देखते हैं और भारत माता के जितने अलग-अलग रूप हैं, हममें से हर एक के लिए उनमें सबसे प्यारा और जाना-पहचाना रूप अपनी माँ का होता है।

मुझे कहना पड़ता है कि सिर्फ़ उनकी ज़िन्दगी के अन्तिम दिनों में मुझे अपनी माँ की बड़ाई और अच्छाई का पूरा अन्दाज़ा हुआ। उस वक्त तक वह सिर्फ़ मेरी माँ थीं, मगर सन्' ४७ की भयानक घटनाओं की पृष्ठभूमि में मुझे पहली बार अपनी माँ में भारत-माता की शान और शक्ति दिखायी दी।

जब पश्चिमी पंजाब के घायल हिन्दू-सिख शरणार्थियों के आने के बाद पानीपत में मुसलमानों का रहना कठिन हो गया और वे सब पाकिस्तान जाने की तैयारी करने लगे, तो मेरी माँ पर दूसरे सगे सम्बन्धियों ने दबाव डालना शुरू किया कि वह उनके साथ पाकिस्तान चलें और मुझे भी लिखें कि मैं बम्बई से कराची आ जाऊँ। मगर उन्होंने साफ़ इन्कार कर दिया और कहा—"हम अपना वतन क्यों छोड़ें ? मेरे बेटे ने हिन्दुस्तान ही में रहने का फ़ैसला किया है और इस फ़ैसले में मैं उसके साथ हूँ।" झगड़े शुरू होने के बाद बीस-बाईस दिन उन्होंने पानीपत ही में गुज़ारे। सात-सात दिन का कर्फ़्यू रहा; घर में सूखी रोटी और चटनी खाकर गुज़ारा करना पड़ा। कई-कई दिन बच्चों को दूध न मिला, और पान, जो उनके जीवन का अनिवार्य अंग थे, बाज़ार से ग़ायब हो गये। एक रुपये में एक पत्ता

मिलता जिसके दस छोटे-छोटे टुकड़े करके वह दिन-भर चलातीं।

ख़ानदान का कोई मर्द उस वक्त पानीपत में नहीं था। मैं बम्बई में था और मेरे एक चचेरे भाई पूना में और एक दिल्ली में। उन दिनों दिल्ली से पानीपत तक पचास मील का सफ़र करना भी मुश्किल था। ख़त और तार भी आ-जा न सकता था। फिर भी अम्माँ अपने हिन्दुस्तान में रहने के फ़ैसले पर अटल रहीं।

फिर हमारे उन रिश्तेदारों को निकालने के लिए, जिन्होंने पाकिस्तान न जाने का फ़ैसला कर लिया था, दिल्ली से एक मिलिटरी ट्रक पंडित जवाहरलाल नेहरू की मेहरबानी से रातोरात पानीपत भेजा गया। घंटे-भर की मोहलत सामान बाँधने के लिए मिली। बुर्क़ों में लिपटी हुई औरतें जो-कुछ ख़ुद उठा सकती थीं, वह साथ लेकर चल पड़ीं। मगर चलते वक्त मेरी अम्माँ को ज़रा भी इस बात का बोध न था कि वह अपने वतन और अपने घर को हमेशा के लिए छोड़ रही हैं, बल्कि पक्का विश्वास था कि हालात सुधरते ही वह फिर पानीपत वापस आ जायँगी। इसलिए उन्होंने दरवाज़े पर एक ताला डालकर उस पर एक बोर्ड लगवा दिया—'इस घरवाले पाकिस्तान नहीं जा रहे हैं, अपने रिश्तेदारों के पास बम्बई जा रहे हैं और हिन्दुस्तान ही में रहेंगे।'

बीस दिन वे सब दिल्ली में रहे। तीस आदमी, एक कमरे में बन्द। हवाई जहाज़ के अड्डे तक पहुँचना भी मुश्किल था और रेल के रास्ते तो थे ही ख़तरनाक। इन दिनों यह ख़बर भी आ गयी कि पानीपत में हमारे मकान लुट गये हैं और शरणार्थियों ने उन पर कब्ज़ा कर लिया है। जान का डर, कई-कई दिनों का फ़ाका और एक कमरे में बन्द रहना—सब के रंग पीले पड़ गये। बच्चों के बदन बिलकुल सूख गये। अन्त में हवाई जहाज़ का रास्ता खुला और उम्र में पहली बार मेरी अम्माँ ने बग़ैर बुर्के के सफ़र किया।

लाल और पीला

जिस दिन वह बम्बई आने वाली थीं, उससे पिछली रात मैंने जागते गुज़ारी – यह सोचते हुए कि इन सब भयानक घटनाओं ने न जाने मेरी माँ की तबीयत पर क्या असर किया होगा ? क्या वह भी नफ़रत, गुस्से और साम्प्रदायिकता की इस बाढ़ में बह गयी होंगी जो उस वक्त सारे हिन्दुस्तान और सारे पाकिस्तान में फैली हुई थी ? क्या उनकी हमेशा की इन्सान-दोस्ती, रहमदिली और न्यायप्रियता इस ख़ूनी समुद्र में डूब गयी होगी ? क्या उनके ज़िन्दादिल और हँसमुख चेहरे पर हमेशा के लिए दुःख और निराशा के बादल छा गये होंगे ? मैं अपनी माँ की सेहत की हालत को अच्छी तरह जानता था। पन्द्रह बरस से वह दमे की रोगी थीं। हिस्टीरिया उनका पुराना साथी था। पति और छोटी बेटी की मौत ने उनका दिल बहुत कमज़ोर कर दिया था। साठ बरस की उम्र में अस्सी की मालूम होती थीं। बेसहारे दो क़दम चलना दूभर था। क्या वह इन सब मुसीबतों को झेलकर ज़िन्दा रह सकेंगी ? और अगर ज़िन्दा रहीं भी तो क्या वह ज़िन्दगी में कोई दिलचस्पी ले सकेंगी ? न जाने हवाई जहाज़ के सफ़र को भी झेल पायें या......

जब तक हवाई जहाज़ ज़मीन पर उतरा, ये सवाल मेरे दिल को बेचैन और दिमाग़ को परेशान करते रहे। और फिर मैंने देखा कि बिना बुर्के के एक चादर में मुँह छिपाये वे हवाई जहाज़ से उतर रही हैं - अपनी बेटी का सहारा लिए। और यह देखकर मेरी आँखों में आँसू आ गये कि वे, जो इतना सख्त पर्दा करती थीं और जिन्होंने इस समस्या पर मुझसे कितनी बार कड़ी बहस की थी, आज अपनी जान बचाने के लिए बुर्का छोड़ने पर मजबूर हुई थीं ! मैंने उम्र-भर कोशिश की थी कि वह पर्दा छोड़ दें, मगर उस वक्त उन्हें बिना बुर्के के आते देखकर मुझे बिलकुल ख़ुशी न हुई, बल्कि मैं डरा कि शायद इस

मज़बूरी के कारण उनकी तबीयत में कड़वाहट आ गयी और वह उस ज़िन्दगी पर लानत भेजने लगी हों जिसने उन्हें अपने ग़लत, मगर प्यारे असूल को तोड़ने पर मज़बूर किया था।

यही सोचता हुआ मैं उन्हें सहारा देकर मोटर तक ले गया! कुछ मिनट तक साँस की तकलीफ़ के कारण वे बोल न सकीं, फिर सांस को सम्भालते हुए उन्होंने कहा, ये शब्द मैं आज तक भी नहीं भूला— "भई मैं तो अब हमेशा हवाई-जहाज़ में सफ़र किया करूँगी, बड़े आराम की सवारी है।" ज़िन्दगी में उन्हें कितना अटल विश्वास था!

और उस रात को पानीपत और दिल्ली की बातें सुनाते हुए उन्होंने मेरे दूसरे सन्देहों को भी दूर कर दिया। कहने लगीं—"न ये अच्छे, न वे अच्छे! न मुसलमानों ने कसर उठा रखी, न हिन्दुओं और सिक्खों ने। सब के सिर पर ख़ून सवार है! मगर मुसलमान होने की हैसियत से मैं तो मुसलमानों ही को ज्यादा इलज़ाम दूँगी कि उन्होंने अपनी हरकतों से इसलाम का नाम डुबो दिया।"

उन दिनों बम्बई में दंगा-फ़साद ज़ोर-से चल रहा था। मेरी अम्माँ को मालूम था कि शिवाजी पार्क, जहाँ हम रहते हैं, वह हिन्दू इलाक़ा है, जहाँ उस वक्त शायद सिर्फ़ दो-तीन मुसलमानों के घर थे। फिर भी अगले दिन ही वह बुर्क़ा ओढ़, दो बच्चों की अंगुली पकड़ समुद्र की सैर करने और बच्चों के लिए सीपियाँ इकट्ठी करने चल दीं। मैंने दबी ज़बान से रोकने की कोशिश भी की, मगर वे न मानीं। कहने लगीं, "अरे, मुझे कौन मारेगा?" वह बिना खटके आहिस्ता-आहिस्ता समुद्र के किनारे टहलती रहीं और मैं काफ़ी परेशान अहाते की दीवार पर बैठा दूर से उनकी रक्षा करता रहा। मैं बुज़दिल निकला और वे बहादुर और इन्सानियत में उनका विश्वास मुझसे कहीं ज्यादा अटल साबित हुआ।

मेरा एक पंजाबी हिन्द-शरणार्थी दोस्त उन दिनों मेरे यहाँ ठहरा हुआ था। यह सुनकर कि उसके शहर शेखूपुरा में बहुत हिन्दू मारे गये हैं, और मेरे दोस्त के घर वाले रातोंरात बड़ी मुश्किल से जान बचाकर वहाँ से भागे और बहुत तकलीफ़ें उठाकर हिन्दुस्तान के किसी शरणार्थी-कैम्प में पहुँचे हैं, मेरी अम्माँ बहुत देर तक रोती रहीं और फिर मुझे अलग पास बुलाकर कहा—"देखना, यह लड़का आज से तुम्हारा भाई है, इसका हमेशा ख़याल रखना। शायद इस तरह हम उन गुनाहों का कफ़्फ़ारा (प्रायश्चित) अदा कर सकें जो हमारे हम-मज़हबों (धर्म-भाइयों) ने किये हैं।" रोज़ नमाज़ के बाद दुआ माँगतीं "या अल्लाह! सब बेघर—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख—अपने-अपने घर वापस हो जायँ। और उनके साथ हमें भी पानीपत जाना फिर नसीब हो जाय।" जिस दिन गांधीजी शहीद हुए, उस दिन तो हमारे घर में ऐसा मालूम हुआ कि कोई बहुत ही पास का रिश्तेदार मर गया है। उस रात अम्माँ ने खाना नहीं खाया। अगले दिन सुबह से रेडियो के पास बैठी गाँधीजी की अर्थी के जलूस की 'कमेन्टरी' सुनती रहीं और चुपके चुपके रोती रहीं। बार-बार ठंडी साँस भरकर कहतीं, "हाय, अब हिन्दुस्तान का क्या होगा?"

किस्मत की अनोखी लीला देखिए कि वे, जिनको अपने वतन से इतनी मुहब्बत थी, उनको मरने के बाद हिन्दुस्तान की मिट्टी नसीब न हो सकी। अपनी छोटी बेटी के पास कराची गयीं और वहाँ उनके पुराने रोग ने ऐसा भयानक रूप धारण किया कि जान न बच सकी। मगर आखिरी दम तक वह अपने देश की उतनी ही वफ़ादार रहीं। उन्हें मालूम था कि उनका बेटा अपने राष्ट्रीय आदर्शों की वजह से पाकिस्तान आना पसन्द न करेगा। वह यह भी जानती थीं कि अगर उनकी तरफ़ से लिखा गया कि मेरे मरने से पहले मुँह देख जाओ तो

वह माँ की खातिर वहाँ चला आयेगा। और इसलिए वह मरते मर गयीं, लेकिन कभी एक बार भी मुझे आने के लिए न लिखवाया; बल्कि बेटी से कहती रहीं कि कोई ऐसी परेशानी की चिट्ठी न लिखना कि वह घबरा कर चला आये। वह हिन्दुस्तान में मरना चाहती थीं। जब ज़रा तबीयत सँभली तो मुझे लिखवाया कि 'परमिट' का इन्तज़ाम करा दो, मैं वापस आना चाहती हूँ। मरने से कुछ दिन पहले इंडियन हाई-कमिश्नर के दफ़्तर ने 'भारतीय नागरिक' मानते हुए उन्हें हमेशा के लिए हिन्दुस्तान में रहने की आज्ञा दे दी—मगर अपने वतन लौटने के सपने देखते हुए ही इस दुनिया से कूच कर गयीं।

उनकी कब्र कराची के कब्रिस्तान में है, पर उनकी आत्मा, उनकी याद, उनका जीवन-आदर्श यहीं हिन्दुस्तान में हमारे पास हैं। पानीपत में उनकी सब जायदाद लुट गयी, मगर उनसे जो हमें विरसे में मिला है, वह मकानों, ज़मीनों, ज़ेवर-गहनों से कहीं ज्यादा कीमती है।

और पकिस्तान की छः फुट ज़मीन हमेशा-हमेशा के लिए भारत भूमि ही रहेगी, क्योंकि उसमें एक 'भारत-माता' दफ़न है!

——·——

गेहूँ और गुलाब

ऊषा

धूप, गर्मी, शरीर को झुलसनेवाली लू, दोपहर का गम्भीर सन्नाटा, जो मीलों तक फैले हुए खेतों पर छाया हुआ था। दूर एक खेत में ट्रैक्टर चल रहा था, जिसकी धीमी गड़गड़ाहट फ़ार्म पर छायी खामोशी को और भी गहरा कर रही थी।

ऊषा ने एक फ़िल्मी पत्र के रंगीन पृष्ठों को पलटते हुए सोचा, मेरा भी क्या जीवन है! शहर से पचास मील दूर वीराने में यह दो कमरों का मकान, फैले हुए खेतों के समुद्र में जैसे एक नन्हा-सा द्वीप हो। फिर कोई सुविधा भी तो प्राप्त नहीं। न बिजली, न पंखे, रेफ्रीजरेटर का कहना-सुनना ही क्या, बर्फ़ तक उपलब्ध नहीं। न क्लब, न सिनेमा, एक बैटरीवाला रेडियो जिस पर सुबह, दोपहर, शाम वह रेडियो सीलोन से फ़िल्मी गाने सुनकर थोड़ी देर दिल बहला लेती

थी। मगर इस कमबख्त बैटरी को भी खराब होना था। यदि रमेश आज शहर से उसे बनवाकर न लाया, तो देखना कैसे लड़ूँगी !

रमेश ! उसका पति, तीन वर्ष उनके ब्याह को हो गये थे, किन्तु इस अवधि में कितना परिवर्तन हो गया था उसमें ? कभी-कभी तो ऊषा को ऐसा लगता कि जिस रमेश से उसकी मुलाकात नैनीताल में हुई थी और जिससे उसने पहले प्रेम और फिर विवाह किया था, वह कोई और रमेश था और यह सरकारी फ़ार्म का डायरेक्टर रमेश कोई और ही रमेश है।

तीन वर्ष पहले वह अमरीका से एग्रीकल्चर की डिग्री लेकर आया था। लम्बा कद, घने चमकीले बाल, चमकीली आँखें, ट्वीड का कोट और कार्डराय की पतलून पहने बिलकुल ग्रेगरी पेक लगता था। नैनीताल में जितने खाते-पीते घरानों की लड़कियाँ उस सीज़न में आयी हुई थीं, सभी तो उस पर लट्टू थीं। मगर रमेश की दृष्टि ऊषा पर पड़ी, जिसने उस साल आइ० टी० कालेज से इंटरमीजियट किया था। ऊषा के पिताजी इलाहाबाद के विख्यात वकील थे। उन्होंने भी रमेश को पसन्द किया था। यद्यपि लड़का ग़रीब कुटुम्ब से था, किन्तु होशियार और होनहार था, सरकारी स्कालरशिप पर अमरीका होकर आया था और किसी अच्छी सरकारी नौकरी का उम्मीदवार था।

ब्याह के बाद एक साल उन्होंने कितनी हँसी-खुशी से बिताया था ! रमेश को उत्तर प्रदेश सरकार के एग्रीकल्चर विभाग में अच्छी नौकरी मिल गयी, पाँच सौ रुपये महीने, रहने को बंगला, लखनऊ का रंगीन जीवन, हज़रतगंज की रौनक और चहल-पहल, राजभवन की गार्डन पार्टियाँ, ऊँचे सरकारी हलकों में मेल-जोल। कालिज के ज़माने से ही लखनऊ में ऊषा की काफ़ी जान-पहचान थी। अब तो मिसेज़ रमेश चन्द्र के रूप में उसकी गणना लखनऊ की सोसायटी के सर्वप्रिय और

प्रतिष्ठित हस्तियों में की जाने लगी थी।

लखनऊ में ऊषा को जीवन की सब दिलचस्पियाँ उपलब्ध थीं। बंगले को उसने बड़ी सुघड़ता से सजाया था। अपनी देख-रेख में बाग लगवाया था। कितना सुन्दर था! गुलाब के पौधे ऊषा ने खुद लगाये थे और उसने महीनों अपने हाथों से उनको पानी दिया था। कितने श्रम और प्रेम से उसने उन पौधों को परवान चढ़ाया था और जिस दिन गुलाब का पहला फूल खिला था, उस दिन ऊषा को कितनी प्रसन्नता हुई थी! बड़ी सावधानी से फूल तोड़कर दिन-भर पानी में रक्खा, शाम को रमेश के आने से पहले बड़े प्रयत्न से शृंगार किया, गुलाबी रंग की रेशमी साड़ी बाँधी, बाल बनाकर जूड़े में वही गुलाब का फूल सजाया। मगर ऊषा की दिन-भर की खुशी खाक में मिल गयी जब रमेश दफ्तर से लौटा और उसने जूड़े में सजे हुए फूल की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया। निराशा का वह क्षण आज दो बरस बाद भी एक काँटे की तरह ऊषा की याद में चुभ रहा था।

—क्यों जी......

ऊषा को आशा थी कि इतना कहना ही काफ़ी है। रमेश की निगाह अवश्य बालों में लगे हुए फूलों की तरफ़ जायगी।

—कहो, क्या है?

—कुछ नहीं।

—क्यों, कुछ कहना तो चाहती थी?

—तो बताओ, मैं आज कैसी लग रही हूँ?

—जैसी हमेशा लगती हो...बहुत सुन्दर।

—बस, रहने दो! तुम्हारी तो नज़र ही बदल गयी है?

—मतलब?

इसके उत्तर में ऊषा ने रोना आरम्भ कर दिया और भर्राई आवाज़

में बोली—मतलब यह कि तुम्हें अब मुझसे मुहब्बत नहीं रही।

रमेश एक क्षण के लिए तो यह इलज़ाम सुनकर चिन्ताग्रस्त हुआ, किन्तु फिर मुस्कराकर बोला—पागल हो गयी हो क्या? या किसी स्कैंडल मांगर ने तुम्हारे कान भरे हैं? आखिर यह ख़याल तुम्हें आया कैसे कि मुझे तुमसे प्रेम नहीं रहा?

- तो फिर अब तुम मेरा नोटिस क्यों नहीं लेते! याद है, नैनीताल में जब हमारी मुलाकात हुई थी तो शादी से पहले तुम मेरी हर बात का नोटिस लेते थे। अब तो तुम कभी देखते ही नहीं कि मैं कौन-सी साड़ी पहने हुए हूँ या मैंने कौन-सी खुशबू लगायी है या मेरे बालों में कौन-सा फूल लगा हुआ है!

अब पहली बार रमेश की निगाह ऊषा के जूड़े पर पड़ी और उसने फूल को सूँघने के बहाने चूमते हुए कहा—ओ हो! इस गुलाब के कारण हम पर डाँट पड़ रही है! अच्छा भई, हम इस फूल की प्रशंसा में एक काव्य रच डालेंगे। तुम्हारे बालों में यह गुलाब ऐसा लगता है, जैसे काले बादलों में सूरज झाँक रहा हो या अँधेरी रात में गाँव के बाहर अलाव जल रहा हो।

—बस, रहने दो मज़ाक!—ऊषा ने आँसू पोंछकर अपनी हँसी को रोकते हुए कहा।

और उनके दाम्पत्य जीवन की यह पहली घटना निर्द्वन्द्व रूप से बीत गयी। किंतु ऊषा के हृदय में एक अजीब-सा असंतोष और चुभन रह गयी। यह असंतोष और भी गहरा होता गया, जब रमेश ने दफ्तर के समय के बाद विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में अनुसंधान के लिए जाना प्रारम्भ कर दिया।

—सुबह से शाम तक दफ्तर में सर खपाते हो, समझ में नहीं आता, तुम्हें अनुसंधान करने की क्या ज़रूरत है!—ऊषा ने छूटते

ही कहा जब रमेश ने अपना इरादा पहली बार व्यक्त किया था।

—यह दफ्तरी काम तो मैं मजबूरी से करता हूँ। केवल अपना और तुम्हारा पेट पालने के लिए। नहीं तो हमेशा से मेरा इरादा कृषि की भिन्न-भिन्न समस्याओं पर अनुसंधान करने का ही था। शाम को बेकार बैठने से बेहतर है कि मैं कुछ देर प्रयोगशाला में बिता आया करूँ।

—तो अनुसंधान करने से क्या तुम्हारा वेतन बढ़ जायगा?

—नहीं, मेरा वेतन तो नहीं बढ़ेगा, हो सकता है, हमारे देश में गेहूँ का उत्पादन बढ़ जाय, क्योंकि गेहूँ के पौधों को जो कीड़े खाते हैं, उनकी रोक-थाम के लिए मैं अनुसंधान करना चाहता हूँ।

—बड़े देश-सेवक आये कहीं के! मैं पूछती हूँ, देश ने तुम्हारे लिए क्या किया है? अमरीका से इतनी बड़ी डिग्री लेकर आये हो और उस पर पाँच सौ रुपये की नौकरी मिली है!—ऊषा के असंतोष में यह नैराश्य भी शामिल था कि उसके पति का वेतन हज़ार-पन्द्रह सौ क्यों नहीं है?

—तुमसे किसने कहा कि मैं अमरीका से इतनी बड़ी डिग्री लेकर आया हूँ? सच पूछो, तो मैंने दो बरस वहाँ रहकर झख मारी है। वहाँ की परिस्थितियाँ यहाँ से इतनी भिन्न हैं कि कृषि-शिक्षा हमारे किसी काम की नहीं। दूसरे यह कि पाँच सौ रुपये कुछ कम नहीं होते। मुझे तो शिकायत केवल यह है कि मुझे एक दफ्तर में कुर्सी पर सजाकर बिठा दिया गया है, बजाय इसके कि किसी फ़ार्म पर मुझे असली काम करने का अवसर दिया जाता......

ऊषा ने रुआँसी होकर कहा—तो इसका मतलब है कि तुम शाम को दफ्तर से प्रयोशाला चले जाया करो और मैं घर में बैठी तुम्हारी प्रतीक्षा किया करूँ। न क्लब जाऊँ, न सिनेमा, न किसी से मिलने...

—यह किसने कहा है कि तुम घर में बैठी रहा करो? तुम क्लब

भी जा सकती हो, अपनी सहेलियों के यहाँ भी जा सकती हो और जब जी चाहे उनके साथ सिनेमा भी। मना किसने किया है ?

उस दिन से यह दिनचर्या हो गयी कि रमेश दफ्तर से सीधा विश्वविद्यालय चला जाता और ऊषा समय काटने के लिए कोई-न-कोई फ़िल्म देखने चली जाती। रात को खाने पर मुलाकात होती, तो रमेश कहता बड़ी हिम्मत है तुम्हारी, न जाने कैसे तुम हर रोज फ़िल्म देखती हो ! मेरी आँखें तो कभी इतना ज़ोर न सह सकें।

सच भी यह था कि अपने मोटे शीशे की ऐनक के बावजूद रमेश को सिनेमा के पर्दे पर चित्र धुँधले ही दिखायी पड़ते थे और इसलिए जहाँ तक होता, वह सिनेमा जाने से कतराता था।

किन्तु ऊषा कहती—वाह ! मेरा बस चले तो दिन में दो-दो फ़िल्म देखा करूँ। सच कहती हूँ, तुम दीपकुमार की नयी फ़िल्म 'आवारा शहज़ादा' देखो, तो जुम हो जाओ !

—यह जुम कैसे होते हैं ?

—मतलब यह कि वह इतना हैंसम (सुन्दर) है कि देखनेवाले का दम जुम से निकल जाय ! यह हमारे कॉलिज का मुहावरा है।

· तुम्हारे कालिज में अँग्रेजी, हिन्दी, इतिहास, भूगोल के अतिरिक्त फ़िल्मस्टारों पर जुम होना भी सिखाया जाता है ?

किंतु ऊषा पर इस व्यंग्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह उसी जोश के साथ दीपकुमार और उसकी फ़िल्मों की सराहना करती रही—इस समय उसके मुकाबले का एक भी ऐक्टर नहीं है। रोमानी सीन तो ऐसे करता है कि क्या कोई हालीवुड का स्टार भी करेगा ! और फिर जैसा अच्छा ऐक्टर है, वैसा ही डायरेक्टर भी। 'आवारा शहज़ादा' में उसने क्या काम किया है ! वाह-वाह ! एक ही फ़िल्म में चार-चार मेकअप बदले हैं। शाहज़ादा, भिखारी, डाढ़ीवाला। सिक्ख ड्राइवर

बनकर ऐसी पंजाबी बोलता है कि हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं। और तो और, एक सीन में ग्वालिन का भेस बदलता है। औरत की ऐक्टिंग ऐसी बढ़िया की है उसने कि पहले तो कोई पहचानता ही नहीं। जब दूसरा भेस बदलने के लिए वह नकली लम्बे बालों की विग उतारता है, तब पता लगता है कि अरे, यह तो वही शहज़ादा है। सच कहती हूँ, ग्वालिन के भेस में इतना खूबसूरत लगता है कि तुम भी देखो, तो आशिक हो जाओ।

रमेश ने हँसकर कहा—हम तो उसे बिन देखे ही आशिक होने को तैयार हैं, इसलिए कि जो उस पर आशिक है, हम उस पर आशिक हैं!

इन दोनों में इस प्रकार के विनोद प्रायः चला करते थे और अब तक न किसी ने बुरा माना था, न ग़लतफ़हमी उत्पन्न हुई थी। सो ऊषा ने कहा—तुम अपनी प्रयोगशाला की ख़बर सुनाओ। सुना है, वहाँ एम० एस-सी की कई खूबसूरत लड़कियाँ भी अनुसंधान करने आती हैं। इसीलिए तुम रोज काम का बहाना करके जाते हो!

रमेश हँसकर बोला—है तो कुछ ऐसी ही बात, पर कठिनाई यह है कि वे मुझे मुँह नहीं लगातीं। मैं सोचता हूँ, वहाँ तो अपनी दाल गली नहीं, अब घर पर ही अनुसंधान किया करूँ!

—घर पर? क्या यहाँ प्रयोगशाला बनाओगे?

—प्रयोगशाला भी एक छोटी-मोटी बना लेंगे, किन्तु असल में मुझे गेहूँ के नये किस्म के बीजों पर रिसर्च करनी है। इसके लिए या तो दस मील दूर विश्वविद्यालय के फ़ार्म पर जाऊँ, जो मेरे लिए मुश्किल है, या अपने ही बंगले पर एक छोटा-सा फ़ार्म बना लूँ।

मगर हमारे यहाँ इतनी जगह ही कहाँ है? मुश्किल से तीन-चार क्यारियाँ तो हैं अपने बाग में!

—इतनी जगह भी काफ़ी है। यदि हम इन सब क्यारियों को

तोड़कर हल चलवा दें, तो गेहूँ बो सकते हैं। प्रयोग के लिए थोड़ी-सी फ़सल भी हो जाय, तो अपना काम चल जायगा।

ऊषा ने तुनुककर कहा—न बाबा! मैं अपनी क्यारियों में हल नहीं चलने दूँगी। यह अच्छी रही कि मेरे इतने खूबसूरत गुलाब के पौधों को उजाड़कर तुम वहाँ गेहूँ की खेती करो। खेती-बाड़ी करनी है, तो कोई और जगह ढूँढ़ लो।

और रमेश ने अकस्मात गम्भीर होकर कहा—तो फिर कुछ ऐसा ही करना पड़ेगा।

अगले सप्ताह दफ़्तर से शाम को लौटकर रमेश ने ऊषा को सूचना दी कि उसका तबादला हो गया है और अब उसे लखनऊ सेक्रेटेरियट को छोड़कर बरेली के निकट सरकार के एक प्रयोगात्मक फ़ार्म को सम्हालना होगा।

और अब डेढ़ बरस से वे थे और यह फ़ार्म था। मीलों तक फैले हुए खेत, ट्रैक्टरों की कर्कश गड़गड़ाहट, गर्मी में लू, जाड़े में पहाड़ों की ओर से आती हुई बरफ़ीली हवाएँ, बरसात में हर तरफ़ पानी-ही-पानी, सड़कें बिलकुल ही बन्द हो जातीं और उनका छोटा घर एक द्वीप बन जाता। वैसे भी ऊषा को प्रायः यही आभास होता था कि रमेश ने उसे तंग करने के लिए एक निर्जन द्वीप पर लाकर कैद कर दिया है। यों तो फ़ार्म पर कई सौ किसान, मजदूर, ट्रैक्टर ड्राइवर और ट्रक चलानेवाले काम करते थे, जो आधे मील की दूरी पर गाँव में रहते थे, लेकिन ऊषा की सुसंस्कृत प्रवृत्ति इनको लखनऊ की सोसायटी की जगह स्वीकार करने से इनकार करती थी। एक बार होली के अवसर पर रमेश उसे गाँव ले गया। रात को फ़ार्म के सारे कर्मचारियों ने मिलकर जलसा किया। देहाती गाने गाये, देहाती नाच नाचे मिठाई बाँटी। रमेश ने सोचा था कि अकेले रहते-रहते ऊषा उकता गयी है,

इस जलसे में सम्मिलित होकर उसकी तबीयत बहल जायगी। मगर जो फ़िल्मी गानों और नाचों की शौकीन थी, उसे इन भद्दे नाच-गानों में क्या दिलचस्पी हो सकती थी! तीन घंटे तक कुर्सी पर बैठी वह इस अरुचि और उकताहट के साथ कार्य-क्रम देखती रही जैसे उसका उससे कोई सम्बन्ध न हो। इति पर रमेश और उसको हार पहनाये गये। मगर यह हार गुलाब के फूलों से नहीं बनाये गये थे, बल्कि इनमें गेहूँ की बालें पिरोयी हुई थीं। और एक ट्रैक्टर ड्राइवर ने घबराहट के मारे हकलाते हुए कहा—हम अपने डायरेक्टर साहब और उनकी श्रीमतीजी को गुलाब के फूलों की जगह गेहूँ की बालों के हार पहना रहे हैं, क्योंकि हम किसानों के लिए तो गेहूँ में ही सारे संसार की सुन्दरता है, सुगन्ध है, खुशहाली है! गेहूँ ही में हमारा जीवन है!—अपने गँवारू उच्चारण में उसने हर शब्द का उच्चारण बिगाड़कर किया था।

ऊषा ने घर पहुँचते ही उस गेहूँ के हार को, जिसकी काँटेदार बालों से उसकी कोमल, गोरी गर्दन पर खराशें पड़ गयी थीं, उतार फेंका, जैसे वह उसके साथ फ़ार्म के सारे शुष्क और अरुचिकर जीवन को ही गले से उतारकर फेंक रही हो।

गेहूँ, गेहूँ, गेहूँ!...रमेश के साथ रहकर ऊषा को इस शब्द से ही चिढ़ हो गयी थी। सुबह उठो तो गेहूँ की बात, खाने पर गेहूँ की चर्चा, टहलने जाओ, तो गेहूँ के खेतों में। हर पग पर रमेश को गेहूँ-सम्बन्धी कोई समस्या याद आ जाती।

—देखो, ऊषा यह गेहूँ की एक नयी किस्म है, जो मैंने उगायी है। इसका दाना लाल और सख्त होता है, इसे रस्ट की बीमारी नहीं लग सकती।

या—देखो, ऊषा, यह रूसी नसल का गेहूँ है और इसी के बराबर

के खेत में यह अमरीकी नसल का गेहूँ। दोनों पंचशील के नियमों पर अमल करते हुए एक ही फ़ार्म पर बराबर उग रहे हैं। अब मैं प्रयत्न कर रहा हूँ कि इन दोनों के मेल से गेहूँ की एक नयी किस्म उगाऊँ, जिसमें अमरीकी गेहूँ की तरह दाना बड़ा निकलेगा और रूसी गेहूँ की तरह गर्मी, सर्दी, हर तरह का मौसम सहन करने की शक्ति होगी। मैं सोचता हूँ, इस नयी किस्म का नाम रखूँगा, शान्ति गेहूँ। क्यों कैसी रही ?

और ऊषा जलकर कहती—गेहूँ, गेहूँ, गेहूँ !...तुम्हारे लिए दुनिया में और कोई बात ही नहीं रही। तुम तो मुझे भी गेहूँ का एक दाना ही समझते हो !

—निस्संदेह !—रमेश हँसकर कहता—तुम में और गेहूँ में बहुत समानता है...गेहूँ के दाने में मनुष्य का जीवन है। और तुम...मेरी जान हो !

—बस रहने दो, झूठी खुशामद कोई तुम से सीख ले ! कब से कह रही हूँ कि बरेली जाओ तो वहाँ किसी के बाग में से गुलाब की कलमें लेते आओ। मैं बंगले के सामने फूलों का बाग लगाऊँगी। मगर तुम्हें कभी याद ही नहीं रहता।

और एक बार फिर रमेश वादा कर लेता कि इस बार वह बरेली जायगा तो गुलाब के पौधे ज़रूर लायगा। पर फिर भूल जाता ? और एक बार फिर वह एक नया वादा कर लेता और ऊषा की तबीयत गुलाब के फूलों के लिए उसी तरह तड़पती, जैसे निपूती स्त्री की ममता बच्चे को गोद में खिलाने के लिए तड़पती है...

गुलाब के फूल ! सुर्ख, मखमली, नन्हीं-मुन्नी, गुलाबी कलियाँ, अधखिली कलियाँ, जैसे नन्हें-नन्हें हुमकते बच्चे माँ को देखकर मुस्करा रहे हों। ऐसा लगता था, ऊषा की सारी आशाएँ सिमटकर अपने

हाथ के उस मासिक पत्र के रंगीन मुख-चित्र में प्रतिफलित हो गयी हैं। नीचे लिखा था, फ़िल्म स्टॉर दीपकुमार के बाग का एक दृश्य। दीपकुमार फूलों का बहुत शौकीन है। उसके घर के बाग में बारह किस्म के गुलाब खिले हुए हैं। दीपकुमार के घर के शेष चित्र अन्दर देखिए।

अन्दर दो पृष्ठों पर दीपकुमार के मकान 'आशा दीप' के रंगीन चित्र फैले हुए हैं। ड्राइंग रूम में पीले, फूलदार पर्दे, नीले सोफ़ों पर रंग-बिरंगे गद्दे, दीवार पर एक विख्यात चित्रकार की बनायी हुई पेंटिंग, रेडियोग्राम के ऊपर नटराज की मूर्त्ति, ड्राइनिंगरूम . रेफ़रीजरेटर के ऊपर गुलाब के फूलों से भरा हुआ फूलदान, बेड-रूम की खिड़की में से गुलाब की झाड़ियाँ सर उठाये झाँकती हुई। कितना रोमानी, मोहक, वातावरण है इस घर का, ऊषा ने सोचा और एक हमारा घर है, जिधर देखो, गेहूँ की बालें, बदबूदार खाद के नमूने, सोफ़ों के बजाय मोढ़े, स्प्रिंगदार मसहरियों की जगह रस्सी से बुने हुए खाट, रेफ्रीजरेटर के स्थान पर घड़ा, रेडियोग्राम के बजाय हैंडल घुमाकर चलनेवाला ग्रामोफोन और बैटरी का रेडियो, जिसकी बैटरी हमेशा बिगड़ी रहती है। सच कहती हूँ, अगर आज भी बैटरी न बनवाकर लाये, तो......

दूर से जीप के हार्न की कर्कश आवाज़ आयी और ऊषा के विचारों की शृङ्खला टूट गयी। रमेश के स्वागत के लिए वह खाट से उठ खड़ी हुई और साड़ी का पल्लू सम्हालती हुई बरामदे की तरफ़ दौड़ी। रमेश के साथ डाक भी आयी होगी। उसे कई फ़िल्मी पत्रों की प्रतीक्षा थी।

खेतों के बीच में से कच्ची सड़क पर धूल के बादल उड़ाती जीप आयी और यकायक ब्रेक की ध्वनि के साथ ठहर गयी। रमेश के बराबर सीट पर डाक का पुलन्दा था। ऊषा बरामदे की सीढ़ियाँ उतरती

हुई दौड़ी।

—अरे...रे! क्या करती हो? इतनी धूप में नंगे सर दौड़ी चली आ रही हो! लू लग जायगी!—रमेश जीप से उतरते हुए चिल्लाया—चलो अन्दर, नहीं तो कोई फ़िल्मी पत्र नहीं मिलेगा!

रमेश सदा की तरह खाकी नेकर, खाकी कमीज़, हैट और पठानी चप्पल पहने हुए था। उसके घने बालों में रास्ते की धूल अटी हुई थी। पसीने से कमीज़ भीगी हुई थी।

वह सुबह-सवेरे ही शहर रवाना हो गया था, इसलिए उसने शेव नहीं किया था और उसकी दाढ़ी के सख्त, सियाह बालों की खूटियाँ निकली हुई थीं।

—पहले यह बताओ, मेरी सब चीज़ें लाये हो या नहीं?—ऊषा ने बरामदे में ठिठककर कहा।

—सब-कुछ लाया हूँ,—रमेश ने अपना हैट ऊषा के सर पर रखते हुए कहा और जीप में से सामान उतारने लगा।

—बैटरी ठीक हो गयी है?

—बिलकुल, ये लो, अब तुम रेडियो सीलोन की सब बकवास सुन सकती हो।

—और कोल्डक्रीम?

—कोल्डक्रीम भी है, मगर रास्ते में गर्म होकर तेल बन गयी हो, तो मैं जिम्मेदार नहीं।

—और मेरे लिए और क्या लाये हो?

—और कुछ नहीं सिवाय तुम्हारे पत्रों और मेरी काम की चीज़ों के। गेहूँ, धान और तरकारियों के बीज हैं और कुछ पौधों की कलमें हैं।

—यह तो न हुआ कि मेरे लिए गुलाब की कलमें भी ले आते!—

ऊषा ठुनककर बोली।

—उनकी तुम चिन्ता न करो। एक दिन जादू से मैं गुलाब के फूल तुम्हारे बाग में खिला दूंगा। अच्छा, अब अन्दर आओ, मुझे तुम्हें एक जरूरी बात बतानी है।

रमेश ने कमीज़ उतारी। स्नान गृह में जाकर मुँह-हाथ धोया। फिर तौलिया लिये बाहर आया और डाक के पुलन्दे में से एक पत्र निकालकर ऊषा की ओर बढ़ाया।

—भई, यह पढ़ो। बड़ी मुसीबत आनेवाली है। एक फ़िल्म कम्पनी यहाँ फार्म पर शूटिंग करने के लिए आनेवाली है और हमें उनका सेवा-सत्कार करना पड़ेगा। सरकार का हुक्म है कि उनको हर प्रकार की सुविधा उपलब्ध की जाय, क्योंकि सरकारी नीति यही है कि ऐसे निर्माताओं की सहायता की जाय, जो प्रोजेक्ट आदि के सम्बन्ध में चित्र बनाना चाहते हैं। मुझे तो बड़ी उलझन मालूम होती है। काम का भी हर्ज होगा, सो अलग। मगर तुम जरूर प्रसन्न होगी।

—छोड़ो जी!—ऊषा ने बददिली से काग़ज़ लिफ़ाफ़े से बाहर निकालते हुए कहा—कोई न्यूज़ रीलवाले होंगे, मोटे, काले कैमरा मैन, जो ट्रैक्टरों और हलों का प्रत्येक कोण से चित्र लेकर चल देंगे।

—कम्पनी का नाम तो पढ़ो!—रमेश ने शरारत से कहा—दिल में तो लड्डू फूट रहे होंगे।

—दीपकुमार प्रोडकशन्स अपनी फ़िल्म 'नया हिन्दुस्तान' की शूटिङ्ग करने? इसका मतलब है कि ..

—तुम्हारे प्रिय अभिनेता, निर्देशक, निर्माता और न जाने क्या-क्या अला-बला, श्री दीपकुमार स्वयं पदार्पण कर रहे हैं।

और ऊषा ने रमेश के गले में बाँहें डालते हुए कहा—सच,

रमेश ! तब तो बड़ा मज़ा आयगा। लेकिन मेरे पास तो कोई ढंग की साड़ी भी नहीं है। वे लोग आयेंगे, तो मैं पहनूँगी क्या ?

दीप

- हाँ, मिस्टर दीपकुमार, इस समय आप अपने किस चित्र की आउट डोर शूटिंग करने जा रहे हैं ?

—नया हिन्दुस्तान।

—इस चित्र के सम्बन्ध में क्या आप हमें कुछ बता सकते हैं ?

—जरूर ! इस चित्र में हम उस परिवर्तन को दिखाना चाहते हैं, जो हिन्दुस्तानी समाज में आज़ादी के बाद हुआ है। हिन्दुस्तान की अधिकांश आबादी गाँव में रहती है और खेती-बाड़ी करती है। इसलिए चित्र की पृष्ठभूमि एक माडेल फ़ार्म है, जहाँ नायक किसानों को खेती के नये तरीके सिखाता है। दरअसल मैं कई वर्ष से यह महसूस कर रहा हूँ कि हमारे अधिकांश फ़िल्मों का वातावरण और उनके पात्र पुराने हो चुके हैं। उनका सम्बन्ध आज के हिन्दुस्तान से, आज के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण और समस्याओं से बिलकुल नहीं है। इन फ़िल्मों को देखने से तो ऐसा लगता है, जैसे हम अभी तक उन्नीसवीं, बल्कि अट्ठारहवीं शताब्दी में रह रहे हों। बल्कि कभी-कभी तो यह खयाल होता है कि ऐसे पात्र किसी भी शताब्दी में विद्यमान नहीं थे।

—जैसे आपका फ़िल्म 'आवारा शहज़ादा' जिसमें नायक एक टीन की तलवार से एक दर्जन सिपाहियों को गिरा देता है और नायिका जो एक चरवाहे की बेटी है, हर दृश्य में एक नया रेशमी वस्त्र धारण किये नज़र आती है ?

—'आवारा शहज़ादा' को यथार्थ की कसौटी पर परखना एक

ग़लती होगी। यह एक मनोरंजक चित्र था, जो जनता को हँसाने और उसका दिल प्रसन्न रखने के लिए बनाया गया था। पब्लिक का दिल बहलाना कलाकार का सर्वोत्तम कर्त्तव्य है। इसके अलावा यह भी याद रखने की बात है कि 'आवारा शहज़ादा' जैसे फ़िल्म नये हिन्दुस्तान के निर्माण और तरक्की में कितना महत्व रखते हैं। सिर्फ़ 'आवारा शहज़ादा' के टिकटों पर जो टैक्स लगा है, उसका हिसाब किया जाय, तो मालूम होगा कि उस फ़िल्म ने सरकार को एक करोड़ रुपया दिया है। यह रुपया कहाँ जायगा? नहरें, सड़कें, बाँध और बिजली-घर बनाने में खर्च होगा। इससे आप अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि 'आवारा शहज़ादा'-जैसे फ़िल्म कितने महत्वपूर्ण और ज़रूरी हैं।

—सुना है 'आवारा शाहज़ादा' से आपको भी चालीस-ब्यालीस लाख रुपये का मुनाफ़ा हुआ है?

—हुआ होगा शायद। रुपये आने-पाई का हिसाब मेरे एकाउँटेंट जानते हैं, मैं नहीं जानता। आपको तो यह मालूम होगा कि मैं कोई फ़िल्म रुपया कमाने के लिए नहीं बनाता। मेरा उद्देश्य सिर्फ़ आर्ट की सेवा करना है और कला-द्वारा देश और राष्ट्र की सेवा करना...

—जी हाँ, इसमें क्या संदेह है!

यह इन्टरव्यू बम्बई सेंट्रल स्टेशन पर फ्रंटियर मेल के एयर कंडीशंड दर्जे के सामने हो रहा था। दीपकुमार प्रोडकशंस के शेष कर्मचारी अपने-अपने डिब्बों में बैठ चुके थे। हीरोइन अलका रानी और उसकी एंग्लो इंडियन हेयर ड्रेसर, जूलिया एक एयर कंडीशंड कूपे में, कैमरा मैन भास्कर और साउँड इंजीनियर देसाई सेकेंड क्लास में, असिस्टेंट डाइरेक्टर आदि इंटर में और बाकी थर्ड क्लास में। केवल दीपकुमार पत्रकारों और दर्शकों की भीड़ में घिरा हुआ प्लेटफ़ार्म

पर खड़ा था। जब उसके सेक्रेटरी वमन राव ने आकर उसे याद दिलाया कि गाड़ी छूटने में केवल पाँच मिनट रह गये हैं तो दीपकुमार ने बड़े नाटकीय ढंग से हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए सबसे आज्ञा चाही।

—अच्छा, तो, भाई लोगो, अब आज्ञा! कुछ और लोगों को भी रुख़सत करना है—यह कहकर वह अपने रिज़र्व कूपे में घुसा और दरवाज़ा बन्द हो गया।

—क्यों, पारो, कहो, क्या इरादा है? चलती हो? टिकट की कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि इस पूरे कूपे पर कब्ज़ा करने के लिए मैं पहले ही दो टिकट ख़रीदे हुए हूँ। रहे कपड़े, तो दिल्ली में ख़रीद लेना।

नहीं जी, तुम जाओ। मैं तुम्हारे साथ रहूँगी, तो लोग न जाने क्या-क्या कहेंगे। देखते नहीं, पत्रकार बाहर खड़े हैं।

—कहेंगे क्या? क्या पति-पत्नी का साथ सफ़र करना जुर्म है?

—आम लोगों के लिए नहीं है, पर तुम्हारे-ऐसे फ़िल्म स्टार कोई साधारण थोड़ा ही हैं। ज़रा सोचो तो, रास्ते में हर स्टेशन पर जब तुम्हारे चाहनेवालों की भीड़ लगेगी और स्कूल व कालिज की लड़कियाँ अपनी कक्षाएँ छोड़कर तुम्हारे दर्शन करने आयेंगी, तब अगर उन्होंने देखा कि उनका चहेता दीप अपनी ही ब्याहता बीवी के संग सफ़र कर रहा है तो उनको कितनी निराशा होगी? ऐसी बातों से तुम्हारी ख्याति को काफ़ी धक्का पहुँच सकता है। हो सकता है, तुम्हारी अगली पिक्चर फेल हो जाय। एक बात याद रखो कि फ़िल्म स्टार की शुहरत का रहस्य यही है कि लाखों लड़कियाँ मन-ही-मन में उसे अपना चाहने वाला समझें? बीवी जैसी अरोमानी चीज़ उनकी रोमानी कल्पना को चकनाचूर कर देगी। इसलिए मेरा यहीं रहना बेहतर है।

दीप को मालूम था कि पार्वती जो कह रही है, ठीक ही कह रही है।

लेकिन जिस ढंग से वह कह रही थी, उसमें व्यंग्य की हल्की सी चुभन उसे महसूस हुई। वह शादी के पाँच साल बाद भी पार्वती से वैसी ही मुहब्बत करता था। उसे यह भी मालूम था कि वह भी उससे वैसी ही मुहब्बत करती है। लेकिन उसे शंका यह थी (और यह शंका अब विश्वास में परिवर्तित होती जा रही थी।) कि वह महान कलाकार दीपकुमार का रोब बिलकुल नहीं मानती, बल्कि शायद उसका आदर भी नहीं करती। प्रायः दीप को यह लगता कि पार्वती दिल-ही-दिल में उस पर हँस रही है, उसके महा-कलाकार के पोज़ का मज़ाक उड़ा रही है। कभी-कभी वह उसके साथ ऐसा सुलूक करती, जैसे बड़े-बूढ़े बच्चों के साथ करते हैं, या बुद्धिमान मूर्खों के साथ। और उस समय दीप को अपने जीवन में एक गहरी शून्यता का आभास मिलता, जैसे अथाह धन-वैभव के होते हुए भी वह कंगाल हो, जैसे बेपनाह जनप्रियता के बावजूद वह गुमनाम और अज्ञात हो और फ़िल्मी हलकों में जीनियस समझे जाने के बावजूद वह मूर्ख और अनपढ़ हो। बात यह थी कि पार्वती के सामने दीप को छोटा होने का अहसास रहता था। वह उसके फ़िल्मों की हर नायिका से अधिक सुन्दर थी। उसका बाप बम्बई का एक मशहूर और धनवान सालिस्टर था, जबकि दीप का बाप दो साल पहले तक देहली के चाँदनी चौक में घड़ियों की एक छोटी सी दुकान चलाता था। पार्वती ने इंग्लिश साहित्य में एम० ए० किया था, जब कि दीप की शिक्षा केवल इंटरमीडियट तक थी। वह बाप के साथ यूरोप घूम आयी थी और पेरिस के लूब्र म्युज़ियम, रोम के संटपाल गिर्जे, लंडन के हाइड पार्क की बातें ऐसी लापरवाही से किया करती, जैसे कोई बम्बईवाला दादर, माहिम या कालबा देवी की चर्चा कर रहा हो, जबकि दीप बम्बई और दिल्ली को छोड़कर हिन्दुस्तान के किसी तीसरे बड़े शहर की भी जानकारी नहीं रखता था। फ़िल्मी पत्रों में

लेख छपते (जिनमें से अधिकांश दीप के अपने पब्लीसिटी मैनेजर के लिखे होते) कि दीप के अभिनय में दिलीपकुमार की गम्भीरता और राजकपूर की चंचलता का एक अनोखा समिश्रण है। उसके अभिनय का मुकाबिला क्लार्क गेबल और जेम्स स्टूअर्ट से किया जाता। लेकिन जब वह घर पर आता, तो पार्वती लारेन्स ओलिवर या चर्कासौव की कला की चर्चा इस ढंग से करती कि उनके मुकाबिले में दीप अपने आप को हेय समझने पर मजबूर हो जाता। उसकी फ़िल्म 'चाल नम्बर बारह' की प्रशंसा में पत्रों ने कालम-के-कालम लिख डाले और दीप कुमार को यथार्थवाद का विशेषज्ञ कहा जाने लगा। लेकिन पार्वती ने केवल इतना कहा—क्यों इटालियन फ़िल्मों की नक़ल में अपना दीवाला निकालना चाहते हो ?

उसकी फ़िल्म 'आवारा शाहज़ादा' ने कई वर्ष के रेकार्ड तोड़ डाले, किन्तु अपनी पत्नी की ज़बान से उसने सराहना का एक शब्द न सुना, सिवा इसके कि 'चलो, अच्छा है, तुम्हारे पिछले कर्ज़े तो उतर जायँगे।'

लेकिन अब 'नया हिन्दुस्तान' फ़िल्म बनाकर दीप को विश्वास था कि वह पार्वती को भी एक बार अपने आर्ट की महानता का लोहा मानने पर मजबूर कर सकेगा। इस फ़िल्म से वह फ़िल्मी जगत में क्रान्ति लाना चाहता था। समाज के नेताओं, मन्त्रियों और सरकार के अफ़सरों को वह दिखाना चाहता था कि किस तरह फ़िल्म से सारे राष्ट्र को जगाया जा सकता है और जनता को नये और प्रगतिशील विचारों से प्रभावित किया जा सकता है। यह फ़िल्म वह एक नये ढंग से बनाना चाहता था। इसलिए उसने निर्णय किया था कि उसमें अधिक आऊट डोर शूटिंग होगी। एकस्ट्राओं की जगह सचमुच के किसान-मज़दूर काम करेंगे। सरकार से पत्र-व्यवहार के बाद उसने एक सरकारी माडेल

फ़ार्म पर शूटिंग करने की आज्ञा प्राप्त कर ली थी। इस लिए वह चाहता था कि इस सफ़र में पार्वती भी उसके साथ हो और एक बार उसको यकीन हो जाय कि उसका पति एक घटिया फ़िल्म ऐक्टर और व्यापारी फ़िल्म प्रोड्यूसर नहीं है, बल्कि एक ईमानदार और उच्च विचारों का कलाकार है। किन्तु पार्वती न मानी। उसने कहा कि मैं जाऊँगी तो बच्चों की देख-भाल कौन करेगा और इस गर्मी में बच्चों को मैं इतने लम्बे सफ़र पर ले जाना नहीं चाहती।

—अच्छा तो, पारो, अब तुम उतरो दीप ने कहा, जब गाड़ी की सीटी सुनायी दी—जूनियर और जम्मू को प्यार कहना और हर रोज़ अपनी और बच्चों की ख़ैरियत का तार भेजती रहना।

—और तुम भी अपना ध्यान रखना—पार्वती ने उठते हुए कहा—धूप में शूटिंग करो, तो हैट बराबर सर पर रखना और नींबू का शर्बत पीते रहना। ऐसा न हो, लू लग जाय। फिर प्यार से ज्यादा ममता-भरे अन्दाज़ में उसने दीप के बालों में हाथ फेरा। हल्के-से उसके गाल को एक थपकी दी और दरवाज़ा खोलकर गाड़ी से उतर गयी।

और दीप को एक क्षण के लिए ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई बच्चा माँ से पहली बार अलग होकर लम्बे सफ़र पर जा रहा हो। और उसने सोचा, पारो के बिना इतने दिनों तक मेरा गुज़र कैसे होगा?

गाड़ी प्लेट फ़ार्म से निकल गयी और सारी भीड़ बाहर जाने लगी, तो एक लड़की ने पार्वती से पूछा—क्यों जी, आप तो दीपकुमार से बड़ी देर बातें करती रहीं, आप उनकी क्या लगती हैं?

—जो आप लगती हैं—पार्वती ने हँसकर उत्तर दिया—मैं भी आप ही की तरह उनके आर्ट की एक प्रशंसिका हूँ, सो आटोग्राफ लेने आयी थी।

गाड़ी बम्बई के बीच से गुज़र रही थी। सब स्टेशनोंकी रोशनी इस तरह दौड़ती नज़र आ रही थी, जैसे मशालें हाथ में लिये कोई राक्षसी सेना पराजित होकर भाग रही हो।......महालक्ष्मी, लोयर परेल, एल्फ़िन्सटन ब्रिज......स्टेशन के बाद स्टेशन......पचास मील प्रति घंटा की गति से गाड़ी बम्बईसे दिल्ली की तरफ दौड़ रही थी और दीप का कल्पना-तुरंग उसी गति से उल्टी दिशा में दौड रहा था।

दादर, माटुंगा रोड, माहम, बाँदरा, उन्नीस सौ पचपन, उन्नीस सौ चौवन, उन्नीस सौ तिरपन, उन्नीस सौ बावन......

खार, सान्ताक्रूज़, विले पार्ले, अँधेरी... ..

आठ वर्ष हुए वह पहली बार दिल्ली से बम्बई आया था।......

किन्तु उस समय उसका नाम दीपकुमार नहीं था, सूरज नारायण माथुर था। उस समय उसने एयर कंडीशंड कूपे में सफ़र नहीं किया था, थर्ड क्लास में आया था। उस वक्त उसके पास शार्क-स्किन के सूटों और सिल्क की कमीज़ों से भरे तीन सूटकेस नहीं थे, केवल एक टीन का सन्दूक था, जिसमें दो पतलून, एक कोट, चार कमीजें थीं और घर के बने सतुए की एक थैली। जब भी भूख लगती, वह सत्तू को पानी में घोलकर पी लेता।

गाड़ी पाल घर के स्टेशन पर ठहरी और डाइनिग कार के वेटर ने आकर कहा—डिनर का टाइम हो गया है, सरकार।

—दिस वे, सर!—डाइनिंग कार के मैनेजर ने स्वयं उसका स्वागत किया और खिड़की के करीब की कुर्सी की ओर संकेत किया। उसके स्टाफ के लोगों में से जो सेकंड क्लास वाले थे, वे भी आ गये थे, किन्तु दूसरी मेज़ों पर बैठे थे।

– क्यों, अलका रानी खाना नहीं खायेंगी?—दीप ने कैमरा मैन भास्कर से पूछा।

—जी नहीं, वह और जूलिया तो रमी खेल रही हैं। अपने कम्पार्टमेंट में ही खाना मँगाया है।

दीप ने सोचा, चलो अच्छा ही है। दोनों यहाँ आतीं, तो बक बक करके मेरा दिमाग़ चाट जातीं और आज की रात न जाने क्यों, वह अकेला रहना चाहता था।

—क्या खायेंगे, सरकार ?— वेटर ने मेनू कार्ड पेश करते हुए शिष्ट भाव से पूछा।

खाने का आर्डर देते हुए दीप ने देखा कि बाकी मेज़ों पर जितने लोग बैठे हुए थे, उन सबकी निगाहें उस पर हैं। दो पारसी लड़कियाँ उसकी ओर देखकर आपस में खुसुर फुसुर कर रही थीं। एक नवयुवक ईर्ष्या की दृष्टि से दीप को घूर रहा था, जैसे कह रहा हो, उफ़! कितना भाग्यवान है यह दीपकुमार! काश, मैं भी ऐसा ही विख्यात फ़िल्म-स्टार बन सकता! टिकट-चेकर और सब मुसाफ़िरों के टिकट देखने के बाद उसकी मेज़ की तरफ़ आया, मगर दीपकुमार का टिकट देखने के बजाय उसने नोटबुक उसके सामने कर दी—इस पर हस्ताक्षर कर दीजिए। मेरी बेटी आपके फ़िल्मों को बहुत पसन्द करती है।

और ट्रेन की गति के साथ दीप की याद अतीत की ओर गयी, जब वह थर्ड क्लास में दिल्ली से बम्बई आ रहा था और उसने डाइनिंग कार में खाने का आर्डर दिया था।

—टिकट प्लीज़!—टिकट चेकर ने कहा था और जब सूरज ने थर्ड क्लास का टिकट दिखाया, तो उसने कर्कश स्वर में डाँटा—चलो बाहर! डाइनिंग कार केवल फ़र्स्ट और सेकेंड क्लास के मुसाफ़िरों के लिए है! कम आन! गेट आउट!

कितने वर्ष बीत गये थे इस घटना को! आठ वर्ष! आठ सौ वर्ष? आठ हज़ार वर्ष?

गेहूँ और गुलाब

इन आठ वर्ष में दुनिया कितनी बदल गयी थी! सूरज नारायण माथुर कितना बदल गया था।

वह खोया-खोया सा बैठा खाना खाता रहा और डाइनिंग कार की खिड़की के शीशे में से वह चाँदनी में चमकते हुए पेड़ों, झोपड़ों और खेतों को पीछे की ओर दौड़ते हुए देखता, मगर कुछ देर बाद उसे ऐसा लगा कि उस खिड़की के शीशे पर उसके जीवन के बीते हुए दृश्य एक दूसरे का पीछा कर रहे हैं, जैसे सिनेमा के पट पर फ़िल्म के सीन दृष्टिगोचर होते हैं।

उन्नीस सौ अड़तालिस... जब हिन्दुस्तान फिल्म स्टूडियो से उसे धक्का मारकर बाहर निकाला गया, क्योंकि वह चौकीदार की नज़र बचाकर शूटिंग देखने स्टूडियो के अन्दर घुस गया था। उसके कपड़े मैले और फटे हुए थे और उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी और उसने दो वक्त से खाना नहीं खाया था और उसके गालों में गढ़े पड़े हुए थे और उसकी आँखों के गिर्द सियाह हलके थे, क्योंकि उसे अब तक फुट-पाथ के पथरीले फ़र्श पर ठीक तरह से नींद नहीं आती थी और इसलिए वह भावी विख्यात अभिनेता नहीं, बल्कि कोई आवारा गुंडा दिखायी देता था।

उन्नीस सौ उनचास...जब वह पापुलर शूमार्ट में पचास रुपये महीने पर नौकर था और दिन-भर लोगों के पैरों में जूते पहना कर दिखाता था...मैले पैर, भद्दे पैर, काले पैर, गोरे पैर, नाजुक और सुडौल पैर...उन दिनों स्वप्न में भी उसे पैर-ही-पैर दिखायी पड़ते थे और एक बार तो उसने स्वप्न देखा कि लाखों पैरों के नीचे उसे रौंदा जा रहा है और उसका दम घुटकर निकलने ही वाला है। किन्तु उसी दिन उसे जूतों की दुनिया से हमेशा के लिए छुटकारा मिल गया था। जब दुकान पर टेलीफोन की घंटी बजी और बोहरे मालिक ने फ़ोन पर दर्जनों बार, जी

जनाब, जी जनाब, करके दीप (जो उस समय सूरज कहलाता था) से कहा --देखो, चार नम्बर के लेडीज़ सैंडलों के जितने अच्छे-अच्छे और बढ़िया नमूने हैं, सब लेकर आइडियल स्टूडियो में मिस राधा रानी के पास जाओ! उनको अपनी नयी फ़िल्म के लिए जूते खरीदने हैं। मगर सूरत ठीक करके जाना, तुम्हारी कमीज फटी हुई है।

और उसने दुकान के पीछेवाली कोठरी में जाकर, जहाँ वह अपने कपड़े रखता था, अपनी इकलौती अच्छी कमीज पहनी, पतलून पर इस्त्री की, बालों में तेल डाल कंघा किया और जाते-जाते आईने में अपनी सूरत देखी।

दुबला वह ज़रूर था, पर उसकी शक्ल बुरी नहीं थी, कितने ही नायकों से अच्छी थी। गरज़ छोटी टैक्सी में वह चौदह डिब्बे डालकर आइडियल स्टूडियो में पहुँचा और क्योंकि वह टेक्सी में सवार था, इसलिए स्टूडियो के दरवाज़े उसके लिए खोल दिये गये। और चूँकि वह पापुलर शूमार्ट का कार्ड लेकर मिस राधा-रानी को जूते दिखाने आया था और सूरत से गुंडा-मवाली न लगता था, इसलिए उसे धक्के मारकर बाहर नहीं निकाला गया, बल्कि तत्काल मिस राधारानी के पास पहुँचा दिया गया।

—मैंने कह दिया है कि मैं उसके साथ काम नहीं करूँगी। आप देखते नहीं, वह बिलकुल गंजा हो गया है!...राधारानी डायरेक्टर देसाई को डाँट रही थी।

उसी समय दीप (जो अभी तक सूरज ही कहलाता था।) वहाँ पहुँचा।

—मैडम, मैं पापुलर शूमार्ट से आया हूँ।

किन्तु एक क्षण के लिए राधारानी ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया, बल्कि टिकटिकी बाँधे उसकी ओर घूरती रही। फिर बोली—अच्छा,

जूते दिखाओ, कोई अच्छा नमूना भी है ?

दीप डिब्बों से सैंडल निकाल-निकालकर दिखाता रहा और राधा रानी और देसाई में हीरो के चुनाव के सम्बन्ध में बहस होती रही। कोई गंजा तो कोई मोटा; कोई ज़रूरत से ज्यादा लम्बा तो कोई ज़रूरत से ज्यादा छोटा। जो हीरो उसे पसन्द थे, वह (डायरेक्टर देसाई के कथनानुसार) या तो बहुत-सी पिक्चरों में व्यस्त थे या रुपये बहुत माँगते थे।

—इससे तो अच्छा है कि आप कोई नया लड़का ट्राई करें—राधारानी तंग आकर बोली।

—पर काम का नया लड़का यहाँ मिलता ही कहाँ है ? तुम तो इस तरह कहती हो कि नया लड़का ट्राई करो, जैसे लड़का न हुआ, जूता हुआ।

—हाँ, तो फर्क भी क्या है ? जूते और हीरो जब पुराने होते हैं, फेंक दिये जाते हैं, उनके बदले नये जूते और नये हीरो ट्राई... हाँ, यह सैंडल मुझे फिट है—यह शब्द उसने दीप से कहे, जो राधारानी के पैरों के पास बैठा एक जूते के बाद दूसरा पहना रहा था।

और फिर आँखों-ही आँखों में राधारानी और देसाई के बीच न जाने क्या इशारे हुए कि अपने सैंडल का बिल वसूल करने जब वह डायरेक्टर के कमरे में पहुँचा, तो देसाई ने छूटते ही पूछा—क्यों, मिस्टर, फ़िल्म में काम करोगे ?

और सूरज के मुँह से कुछ न निकला, सिवाय—जी ! जी ! एक गिलास पानी...के

उन्नीस सौ पचास...जब वह सूरज नारायण माथुर से दीपकुमार बन चुका था। उसके पास सात फिल्मों के कंट्रैक्ट थे और उसके बैंक के लॉकर में सवा लाख रुपये ब्लेक के थे। जब वह एक शाम अपनी

ब्यूक में बैठकर कन्ट्रैक्टों के सम्बन्ध में कानूनी परामर्श करने मालाबार हिल पर अपने सालिसिटर केकाचन्द प्रेमचन्द के घर गया था (वह खुद भी उस समय वर्ली पर तीन सौ रुपये महीनेके फ्लैटमें रहता था, लेकिन इतना वैभवशाली और सुन्दर बंगला उसने कभी अन्दर से नहीं देखा था।) हर तरफ किताबों की ऊँची-ऊँची आल्मारियाँ, दुनियाके विख्यात चित्रकारों की सर्वोत्तम कृतियाँ, कीमती कालीन, खूबसूरत मोटे पर्दे, बढ़िया और आरामदेह फ़रनीचर, सोफ़े, दीवान, कुशन, काठियावाड़ी काम की पीढ़ियाँ, काँसे की पुरानी मूर्तियाँ...हर वस्तु गृहस्वामी के सुसं त होने की घोषणा करती थी। फिर ड्राइङ्ग रूम की दीवार, फिर लम्बी खिड़की में समुद्र का लुभावना दृश्य...और काम की बातें समाप्त करने के बाद जब सालिस्टर प्रेमचन्द ने दीप का परिचय अपनी बेटी, पार्वती से कराया, जो उसी साल एम० ए० की परीक्षा दे रही थी तो दीप को ऐसा लगा कि उस घर की सारी सुन्दरता और सुघड़ता उस कोमल और सुसंस्कृत लड़की में सिमट आयी है, जो किचन में जाकर अपने हाथों से पकौड़े भी तल सकती है, डाइनिंग टेबुल पर बैठकर बड़े सलीके से चाय उँडेल सकती है और साथ-साथ बायरन के काव्य और गेटे के नाटकों के बारे में विद्वत्तापूर्ण बहस भी कर सकती है और दीप, जिसने न कभी ऐसा घर देखा था, न कभी ऐसी लड़की से मिला था, यह सोचता हुआ वहाँ से रुखसत हुआ कि मेरा सारा धन और ख्याति किस काम की, यदि पार्वती जैसी पत्नी न मिले।

उन्नीस सौ इकयावन...जब बड़ी धूम से उसका ब्याह पार्वती से हुआ और उसकी कम्पनी, दीपकुमार प्रोडक्शंस, का उद्घाटन हुआ।

उन्नीस सौ बावन जब उनका पहला बच्चा हुआ, जिसका नाम जगदीप रखा गया (मगर जिसे पार्वती जूनियर के नाम से पुकारती थी।) और जब दीपकुमार प्रोडक्शंस के फ़िल्म 'आसमानी चूड़ियाँ'

की रजत जयन्ती हुई, कम्पनी को सात लाख का मुनाफ़ा हुआ, जिससे दीप ने अपना स्टूडियो बनवाना शुरू किया। और उनकी दूसरी सन्तान एक बच्ची पैदा हुई, जिसका नाम जमुना रखा गया, मगर जिसे माँ-बाप प्यार से जम्मू कहने लगे। उसी साल के अन्त में दीप और पार्वती का पहला झगड़ा हुआ, जब पार्वती ने दीप का नया फ़िल्म 'हाय मेरे बालम' देखा और दीप ने उसकी राय पूछी तो उसने कहा—मेरी पसन्द-नापसन्द का क्या प्रश्न, पब्लिक तो पसन्द करती है ना ? रजत जयन्ती तो जरूर होगी ना ? बस तो फिर काफ़ी है !

और दीप को ऐसा लगा, जैसे उसकी सफलता के शर्बत में किसी ने कुनैन घोल दी हो।

उन्नीस सौ तिरपन...जब दीप की फ़िल्म 'हाय मेरे बालम' की स्वर्ण जयन्ती हुई और उसने जूहू पर एक बंगला खरीदा और पचास हजार उसके फ़रनीचर और बीस हजार बाग और लॉन लगाने पर खर्च कर दिये।

उन्नीस सौ चौवन... जब दीपकुमार प्रोडक्शंस की फ़िल्म 'चाल नम्बर बारह', जो एक बड़े शहर में गरीबों की ज़िन्दगी से सम्बन्धित थी, फेल हो गयी। दीपकुमार के बाग के फूलों को फ़्लावर शो में प्रथम पुरस्कार मिला। जूनियर पहली बार स्कूल गया। और जम्मू ने पापा, ममी कहना शुरू किया। दीप ने डाक्टरी सर्टीफिकट प्राप्त करके शराब का परमिट बनवाया।

उन्नीस सौ पचपन...दीप की नयी फ़िल्म 'आवारा शहज़ादा' की असीम लोकप्रियता ने कई बरस के रेकार्ड तोड़ दिये। दीपकुमार को इतना मुनाफ़ा होने का भय हुआ कि ऑडीटर ने परामर्श दिया कि वह टैक्स से बचने के लिए शीघ्र एक ऐसी फ़िल्म आरम्भ कर दे, जिसमें नुकसान दिखाया जा सके और चुनांचे उसकी फ़िल्म 'नया हिन्दुस्तान'

का मुहूर्त हुआ ।

ट्रेन एक झटके के साथ किसी छोटे-से अँधेरे स्टेशन पर ठहर गयी और मुसाफ़िर डाइनिंग कार से अपने डिब्बों की तरफ़ चले । दीपकुमार ने वेटर से कहा—दो सोडे की बोतलें दे दे ।—फिर अपने कूपे का दरवाजा बन्द कर लिया ।

सूटकेस में से ह्विस्की की बोतल निकाली और गिलास में एक पेग उँडेला । फिर उसने तीन चित्रों का एक तह होनेवाला चमड़े का फ्रेम निकाला, जो सफ़र में हमेशा उसके साथ रहता था । एक तरफ़ जूनियर, दूसरी तरफ़ जम्मू, बीच में पार्वती की एक मुस्कराती हुई तस्वीर ।

वेल, पारो ! हियर इज़ टू यू ! उसने गिलास उठाया और एक ही घूँट में खाली कर दिया । पाँचवें पेग के बाद उसने पार्वती की तस्वीर की ओर ध्यानपूर्वक देखा और बड़बड़ाया—तुम मुझपर हँसती हो पारो ! मेरा मज़ाक उड़ाती हो, इसलिए कि मेरा बाप गरीब था और तुम्हारा अमीर ! या इसलिए कि मैं इन्टरमीडियट तक पढ़ा हूँ और तुम एम० ए० हो ! या इसलिए कि तुम शास्त्रीय संगीत और भारत नाट्यम और रूसी बैले और इटालियन फ़िल्म पसन्द करती हो और मैं 'आवारा शाहज़ादा' जैसी घटिया फ़िल्में बनाकर रुपये कमाता हूँ ! क्यों, यही बात है ना ?

सातवें पेग के बाद उसने गुलाबी आँखों से पार्वती की तस्वीर को घूरा—सारी दुनिया मेरी इज्ज़त करती है, लाखों मेरे काम को सराहते हैं, मेरी प्रशंसा करते हैं । मैं जहाँ जाता हूँ, मेरे चाहनेवालों की भीड़ जमा हो जाती है । तीन हज़ार पत्र हर महीने मेरे पास आते हैं । इतनी प्रशंसकों की डाक किसी स्टार की भी नहीं है । पर तुम मेरी इज्ज़त नहीं करती पारो ! तुम मुझसे मुहब्बत करती हो, पर जैसे माँ अपने मूर्ख बच्चे से करती है । मुझे ऐसी मुहब्बत नहीं चाहिए पारो, मैं चाहता हूँ

कि तुम मुझे अपने बराबर समझो, मेरा आदर करो।

और नवें पेग के बाद उसने फिर पार्वती के चित्र को सम्बोधित किया—तुम अपने-आपको समझती क्या हो पारो? माना कि तुम सुन्दर हो, पढ़ी-लिखी हो, अमीर माँ-बाप की बेटी हो, पर दुनिया में हज़ारों लड़कियाँ और भी हैं, समझी, पारो! नहीं समझी तो मैं तुम्हें समझाऊँगा! फिर हँस रही हो? पारो, मत हँसो, मत हँसो!

किंतु उसकी मदहोश आवाज़ की गूँज कूपे ही में खोकर रह गयी और जब वह नशे में चूर होकर सो गया, पार्वती की तस्वीर उसी तरह व्यंग्य और परिहास और दया के भाव से मुस्कराती रही।

रमेश

ट्रेक्टर के स्टीयरिंग ह्वील को सम्हाले रमेश अपने पैरों तले मोटर की घड़घड़ाहट को महसूस कर रहा था। जब कभी वह ट्रेक्टर चलाता था, उसके तन-बदन में एक अजीब सनसनी-सी दौड़ जाती थी। उसका दिल विजयोल्लास की एक विचित्र भावना से भर जाता और उसे लगता कि वह एक माडल फ़ार्म का डायरेक्टर नहीं, एक फ़ौज का सेनापति है जो हमला करती, शत्रुओं को परास्त करती चली जा रही है और यह ट्रेक्टर नहीं, जिसपर वह सवार है बल्कि नेपोलियन का जंगी घोड़ा है, हिटलर का टैंक है...नहीं हिटलर के टैंक तो रूसी तोपों के सामने बुरी तरह मार खा गये थे, किंतु इस ट्रेक्टर और इसके पीछे लगे हुए हार्वेस्टर की कलदार तेज़ दराँतियों के सामने तो ऊँचे से ऊँचे गेहूँ का बड़े से बड़ा खेत भी हेय है।

हार्वेस्टर कम्बाइन पकी हुई फ़सल को इस तरह काट रहा था, जैसे सर के घने बालों को नाई की मशीन! इस उपमा को सोचकर रमेश आप ही आप मुस्करा दिया। सचमुच पीछे मुड़कर देखने से ऐसा ही

लगता जैसे खेत की हज़ामत होती जा रही हो। किन्तु यह उपमा भी कितनी फूहड़ है। कोई और सुन्दर उपमा सोचनी चाहिए। कृष्णचन्द्र ने किसान की दराँती को साहित्यकार की लेखनी और चित्रकार की तूलिका से उपमा दी थी, इसलिए कि उसी दराँती से किसान ज़मीन के कैनवेस पर कैसे-कैसे सृजनात्मक बेल-बूटे अंकित करता है, कैसी-कैसी अमर कृतियों की रचना करता है। अगर दराँती पुराने ज़माने के किसान का क़लम थी, रमेश ने सोचा, तो हार्वेस्टर-कम्बाइन आज के किसान का टाइपराइटर है, जिसपर खटाखट नये इन्सान की कहानी लिखी जा रही है। नहीं, यह उपमा भी संतोषजनक नहीं है। रमेश ने सोचा, काश मैं साहित्यकार होता, चित्रकार होता कि इस सुन्दर, मादक और अनोखे भाव को व्यक्त कर सकता जो इस समय वह अनुभव कर रहा था, जो हर बार वह अनुभव करता था। जब भी कभी वह फ़ार्म पर किसी मशीन से काम करता, हर बार वह सोचता. दस साल पहले इतने बड़े खेत की, फ़सल काटने के लिए सैकड़ों किसानों और उनकी औरतों और बच्चों को कम से कम दस दिन लगते थे, और अब चन्द ही घटों में वह सारा काम एक ट्रेक्टर और एक कम्बाइन से हो सकता है। और उसे ऐसा लगता, जैसे इन्कलाब वह नहीं था जो राजनीतिज्ञ अपने धुआँधार भाषणों से लाये थे, बल्कि इन्कलाब यह है जो उसके फ़ार्म की मशीनें अब किसानों की ज़िंदगी में ला रही हैं; वह मशीनें जो हमेशा के लिए किसानों को जानवरों की तरह श्रम करने की विवशता से मुक्त कर रही हैं; जो देश की कृषि की पैदावार बढ़ा रही है; जो हिन्दुस्तान के देहात का नक्शा बदल रही हैं। सामने दूसरा ट्रैक्टर गँगुआ चला रहा था -अट्ठारह बरस का किसान छोकरा जिसके बाप-दादा सैकड़ों बरसों से ज़मीदारों की ज़मीन बोते, ज़मीदारों की फ़सलें काटते और ख़ुद आधे पेट भूखे रहते आये थे; जिन्होंने कभी

हल और दराँती के अलावा दूसरा औज़ार नहीं देखा था, जो कभी रेल में बैठकर बरेली तक भी नहीं गये थे।' उन्हीं की सन्तान गंगू आज उस फ़ार्म का बेहतरीन ट्रैक्टर ड्राइवर है। हिन्दी में लिख-पढ़ सकता है। रमेश की तरह ख़ाकी नेकर और क़मीज़ और हैट पहनता है। उसका बूढ़ा बाप अब भी बरसों की आदत से मजबूर होकर ज़मींदार की औलाद से और हर सरकारी अफ़सर से 'हजूर' करके बात करता है, किंतु गंगुआ का मिज़ाज बदल चुका है। वह ट्रैक्टर चलाना सीखने के लिए भोपाल का सफ़र कर आया है। वह सुबह हिन्दी का अख़बार पढ़ता है, रात को रेडियो सुनता है, हफ़्ते में कम से कम एक बार बरेली जाकर सिनेमा देखता है और न कभी किसी के सामने गिड़गिड़ाता है न 'हुजूर, हुजूर' करता है। और रमेश ने सोचा, मैं चित्रकार होता तो गंगुआ की बड़ी खूबसूरत तसवीर बनाता और उसके नीचे लिख देता 'हिन्दुस्तान का नया किसान।' पसीने में नहाया हुआ, स्याह गठा हुआ बदन, ट्रैक्टर के पहिये को सम्हाले हुए लौह हाथ, मज़बूत ठोड़ी ऊपर को उठी हुई और निर्भीक दृष्टि आकाश पर जमी हुई ..

सामने क्षितिज की ओर भूरे-भूरे बादल उठ रहे थे। कितना सुन्दर दृश्य था ! जहाँ तक दृष्टि जाती थी, लहलहाते हुए खेत, धूप में चमकती हुई, गेहूँ की सुनहरी बालें ! उत्तर की दिशा में आम के पेड़ों के झुंड के पीछे दूर पहाड़ियों की धुँधली-धुँधली शृङ्खला धीरे-धीरे गहरे स्याह बादलों के पीछे छिपी जा रही थी। रमेश ने सोचा इससे बढ़कर सुन्दर दृश्य संसार में हो ही नहीं सकता और न ट्रैक्टर की गड़गड़ाहट से प्यारा कोई संगीत हो सकता है, इसलिए कि इस मशीनी संगीत में ताक़त है, एक लौह सामंजस्य है, नयी ज़िंदगी का संदेश है।

—कट !

फ़ज़ा में एक अस्पष्ट-सी आवाज़ गूँजी, मगर रमेश के विचारों के क्रम पर इसका कोई असर नहीं हुआ। एक-सीटी बजी, पर रमेश को अपनी ज़िंदगी से उस सीटी का कोई सम्बन्ध न मालूम हुआ। वह ट्रैक्टर चलाता रहा। कम्बाइन की चरख़ी घूमती रही। उसकी कलदार दराँतियाँ फ़सल काटती रहीं। सामने आसमान पर बादलों के रंगीन चित्र बनते रहे। गेहूँ की बालों पर सूरज की अंतिम किरनें नाचती रहीं।

–कट! कट!—किसी दूसरी दुनिया से आवाज़ आयी। सीटियाँ ज़ोर-ज़ोर से बजने लगीं। मगर रमेश का हाथ ट्रैक्टर के ब्रेक पर नहीं गया।

—ट्रैक्टर ठहराओ!

उसके बिलकुल क़रीब आकर कोई चिल्लाया तो रमेश ने घूमकर देखा कि दीपकुमार का असिस्टेंट है। और उसके पीछे-पीछे हाँपता-काँपता फ़सल पर फिसलता, गिरता दीपकुमार भागा आ रहा है। अब रमेश ने ब्रेक लगाकर ट्रैक्टर रोका।

—अरे भाई, क्या करते हो? शॉट बिलकुल खराब कर दिया! इधर के खेत पर तो लाइट ही नहीं है। फिर कट करके हमें मिड शॉट में जाना था...

अब रमेश को याद आया कि वह फसल ही नहीं काट रहा है, दीप की फ़िल्म 'नया हिन्दुस्तान' के एक शॉट में भाग ले रहा है। क्योंकि दीप खुद ट्रैक्टर नहीं चला सकता था, इसलिए उसने रमेश से प्रार्थना की थी कि लाँग शॉट में वह ट्रैक्टर चला दे। इन दोनों का क़द और शरीर लगभग एक-सा ही था। दीप भी रमेश की तरह ख़ाकी नेकर, कमीज़, हैट पहने हुए था। दूर से पता भी न चलेगा कि कौन है। जब कैमरा करीब आयगा तो दीप को ट्रैक्टर को ब्रेक लगाकर

उतरते हुए दिखा दिया जायगा।

—थैंक्यू, मिस्टर रमेश !—दीप ने ट्रैक्टर पर सवार होते हुए कहा—ज़रा यह तो बताओ ब्रेक कैसे लगाते हैं ?

रमेश ने उसे सब कल-पुरजे समझाये और नीचे उतर आया। कैमरा मैन कैमरा लगा रहा था। उसके पीछे दीप के कलाकारों और असिस्टेंटों की भीड़ लगी हुई थी और उन्हीं में ऊषा भी खड़ी तमाशा देख रही थी।

—कहो, ऊषा, अब तो मैं भी फ़िल्म स्टार हो गया न ?—रमेश ने पसीना पोंछते हुए बीवी से पूछा।

—हैं ? क्या कहा ? —ऊषा का ध्यान कहीं और था। उसकी निगाह दीप पर जमी हुई थी।

—कुछ नहीं। तुम शूटिंग देखो। मैं घर जाता हूँ। रेडियो पर मौसम की खबरें सुननी हैं ? —और वह लम्बे कदम उठाता हुआ चला गया।

उधर शूटिंग जारी थी। दीप ट्रैक्टर से उतर कर भागा। कैमरे ने घूम कर उसको फ़ोकस में रखा। खेतों में से अलका रानी सामने आयी। रेशमी घाघरा, चोली और क्रेप की ओढ़नी पहने हुए—लता मंगेशकर की आवाज़ में तान लगाती हुई —'ओ—ओ—ओ, अजी हो-हो—हो !' दीप ने उसका पीछा किया। वह खेत में छिप गयी। दीप ने उसे ढूँढ निकाला। वह फिर भागी, छिपी, अंत में दीप ने उसे कलाई से पकड़ लिया। प्ले-बैक पर लता मंगेशकर चिल्लायी 'छोड़ो छोड़ो जी-मोरी कलैया'......लेकिन अलका रानी साथ-साथ ओंठ हिलाना भूल गयी। और असिस्टेंट डायरेक्टर चिल्लाया—कट ! कट !

दीप ने घड़ी देखी, कैमरा मैन ने आसमान की ओर निगाह दौड़ायी और दीप ने घोषणा की—शूटिंग पैक अप !

अलका रानी अपनी नकली चोटी जूलिया की ओर फेंकते हुए चिल्लायी--कम आन, डार्लिङ्ग ! चलकर ठंढे पानी से नहायें।

दूसरे असिस्टेंट डायरेक्टर ने उसे सेंडल पहनायी और वह जूलिया का हाथ पकड़ कर अपने पैरों में पड़ी पायल को छुनकाती चल दी

—कहिए, ऊषाजी, आप चलती हैं ?

—चलिए !

काफ़ी दूर तक उनको खेतों के बीच में से पगडंडी-पगडंडी होकर जाना था।

रास्ते में ऊषा ने कहा—दीपजी, आप इतने बहुत-से काम कैसे कर पाते हैं ? ऐक्टिंग, डायरेक्शन, फिर प्रोडक्शन की सारी ज़िम्मेदारियाँ ? मैं तो सोच-सोचकर हैरान रह जाती हूँ।

दीप ने अपनी प्रसिद्ध मुस्कान का प्रदर्शन करते हुए कहा—इसमें कमाल की कौन सी बात है। यदि कोई काम भी अच्छा न किया जाय, तो आदमी जितने काम चाहे कर सकता है।

—क्यों आप मुझसे प्रशंसा करवाना चाहते हैं ! सच कहती हूँ, मैंने आज तक आपकी एक भी पिक्चर भी मिस नहीं की। इतना अच्छा काम करते हैं आप तो...

न जाने क्यों, उस समय दीप को पार्वती का ध्यान आया और उसने सोचा, काश, ये शब्द कभी पारो की ज़बान से सुने होते ! मगर ऊषा से उसने कहा—तो फिर बताइए कि मेरे काम में आपको क्या बात अच्छी लगती है ? डायरेक्टर के रूप में भी, एक्टर के रूप में भी...

कुछ क्षण सोचकर ऊषा बोली—मैं बताती हूँ। डायरेक्टर के रूप में ऐसा लगता है जैसे सारी दुनिया का दर्द आपके दिल में सिमट आया है।......आप जीवन के जिस रुख को भी अपनी फ़िल्मों में दिखाते हैं, उसके साथ आपकी पूरी हमदर्दी झलकती है। 'चाल नम्बर

बारह' में आपने शहर के ग़रीबों का हाल दिखाया है। 'आवारा शाहज़ादा' में जब शाहज़ादा डाकू के भेस में अमीरों को लूटकर उनकी दौलत ग़रीबों में बाँटता है...बड़ा ही असर डालता है वह सीन। फिर गाने भी तो ग़ज़ब के होते हैं आपके फ़िल्मों में...

—ऐक्टर के रूप में तो आप कमाल करते हैं। जो पार्ट भी करते हैं उसमें घुलमिल जाते हैं। पर सब से बड़ी बात यह है कि आपके रोमानी सीन ग़जब के होते हैं। आप बुरा न मानें तो एक बात कहूँ...

—कहिए, कहिए! मैं तो आपकी बातें बड़ी दिलचस्पी से सुन रहा हूँ।

—हमारे कालेज की सब ही लड़कियाँ यह कहती हैं कि जब वे आपको स्क्रीन पर 'लव सीन' करते देखती हैं तो उन्हें ऐसा लगता है कि जैसे आप ख़ुद उनसे...... और शर्म के मारे उसकी ज़बान रुक गयी।

—प्रेम कर रहा हूँ, क्यों?

ऊषा ने सर हिलाकर 'हाँ' कहा। फिर कुछ मिनट तक दोनों मौन रूप से चलते रहे और शाम के हसीन सन्नाटे में, ऊषा के निकट चलते हुए हिना के उस इत्र में, जिसकी सुगंधि की लपटें ऊषा के कपड़ों से आ रही थीं और उन शब्दों में जो ऊषा ने अभी उसके बारे में कहे थे, दीप को एक अजीब आनन्द, एक विचित्र संतोष का आभास मिला, जैसा कि उसे पहले कभी न मिला था और उसे ऐसा लगा, जैसे उसके जीवन की सबसे बड़ी कमी आज दूर हो गयी।

सिगरेट जलाने के बहाने से वह रुका, ऊषा भी रुक गयी। सिगरेट जलाते हुए दीप ने ऊषा को भरपूर निगाहों से देखा। ऊषा ने निगाहें झुका लीं।

एक बार दीप का हाथ योंही अनायास ऊषा की कमर की ओर बढ़ा, पर फिर कुछ सोचकर वह रुक गया।

—कहिए, आपकी ज़िंदगी यहाँ कैसे गुज़रती है ? फिर क़दम बढ़ाते हुए दीप ने प्रश्न किया।

—हमारी भी क्या ज़िंदगी है, दीप जी ?

—अब यह दीप जी का तकल्लुफ़ रहने भी दो ऊषा, मेरा नाम केवल दीप है।

—आप तो मनोविज्ञान के विशेषज्ञ हैं। आप समझ सकते हैं कि ऐसे वातावरण में कैसा जीवन बीत सकता है। बड़ा ही निरुद्देश्य, बेरंग, बेमज़ा जीवन है अपना तो।

—कोई काम क्यों नहीं करतीं आप ? आप तो पढ़ी-लिखी हैं...

—पढ़ी-लिखी क्या हूँ। इंटर तक पढ़ा था कि शादी हो गयी। टीचर होने के लिए भी तो ग्रेजुएट.. मगर आप हँस क्यों रहे हैं ? मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हैं क्या ?

—नहीं नहीं मैं तो इसलिए हँस रहा हूँ कि मैं भी सिर्फ़ इंटरमीडियेट तक पढ़ा हूँ। फिर भी देखिए काम करता ही हूँ।

—पर आप तो फ़िल्म में काम करते हैं।

—तो आप भी फ़िल्म में काम कर सकती हैं।

—जी—मैं ?—और ऊषा को ऐसा लगा जैसे वातावरण में चाँदी की घंटियों की आवाज़ गूँजने लगी हो, जैसे गेहूँ के खेत एकाएक गुलाब की क्यारियों में बदल गये हों।

—पर मुझे काम कौन देगा, दीप जी ?

—केवल दीप कहो तो मैं ही काम दे सकता हूँ, ऊषा।

—सच दीप ?

—हाँ ऊषा, मैं झूठ नहीं कह रहा। फ़िल्म स्टार बनने के लिए दो

चीज़ों की ज़रूरत है—ख़ूबसूरती और प्रतिभा। हमारी बहुत-सी फ़िल्म स्टार्स सिर्फ़ ख़ूबसूरत हैं, बल्कि बॉज़ तो अब ख़ूबसूरत भी नहीं रहीं। हमारी अलका रानी ही को ले लो, दस बरस की ख्याति के भरोसे चल रही हैं। पर तुम तो सुन्दर होने के साथ प्रतिभाशाली भी हो।

—आप मज़ाक़ तो नहीं कर रहे? देखिए यह मेरी सारी ज़िंदगी का सवाल है।

—नहीं ऊषा, मैं मज़ाक़ नहीं कर रहा हूँ। पर शायद मुझे ऐसा कहना नहीं चाहिए था। रमेश साहब सुनेंगे तो क्या कहेंगे?

—मैं उनकी बीवी हूँ, लौंडी नहीं। अपनी बेहतरी के लिए जो चाहूँ कर सकती हूँ।

और इस अरसे में बँगला आ गया। अन्दर रोशनी हो रही थी और रेडियो पर ख़बरें सुनायी दे रही थीं। बँगले के बराबर ही चार खेमों का कैम्प लगा हुआ था। एक में दीप, दूसरे में अलका रानी और जूलिया, तीसरे में केमरामैन और असिस्टेंट और चौथी छोलदारी में कुली और दूसरे नौकर।

ऊषा ने दीप को ऊँची आवाज़ से विदा किया।

—अच्छा मिस्टर दीप, आप चलिए मुँह-हाथ धोइए, मैं अभी चाय भिजवाती हूँ।

—थैंकयू मिसेज़ रमेश! आपको हमारी वजह से बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ती है।

ऊषा अन्दर कमरे में चली गयी, जहाँ रमेश रेडियो के पास बैठा हुआ ध्यान से ख़बरें सुन रहा था। दूर से बादलों की गड़गड़ाहट सुनायी दी। एक बिजली की लहर आसमान को चीर गयी, पर ऊषा को कोई गुमान न गुज़रा कि तूफ़ान आने वाला है।

रेडियो एनाउँसर कह रहा था—केन्द्रीय सरकार के खाद्य विभाग ने यह घोषणा की है कि इस वर्ष भारत में और सब वर्षों से अधिक अन्न पैदा हुआ है। गेहूँ की जो फ़सल अब पक कर कटाई के लिए तैयार है यदि वह वर्षा से पहले कट गयी तो निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि इस वर्ष अकाल का कोई भय नहीं रहेगा।

—सुना तुमने, ऊषा ?—रमेश ने बीवी की ओर मुस्कराकर देखते हुए कहा—कटाई करने में तो हमारा फ़ार्म सबसे आगे है। इन फ़िल्म वालों ने बार-बार ट्रैक्टर को रुकवाया न होता तो आज ही सारी फ़सल कट जाती। मुझे पूरी आशा है कि गेहूँ की पैदावार में हमारा फ़ार्म सबसे बाज़ी ले जायेगा।

—फ़सल, ट्रैक्टर, गेहूँ, कटाई, क्या इनके अलावा दुनिया में कोई बात ही नहीं रह गयी। कभी मेरा भी ख़याल किया करो।

—क्यों क्या हुआ ? तबियत तो ठीक है ? दिन भर धूप में खड़े-खड़े कहीं लू तो नहीं लग गयी ? न जाने इन फ़िल्म वालों की बकबक से कब छुटकारा मिलेगा।

ऊषा का जवाब सुनकर रमेश हक्का-बक्का रह गया था। एक दम चिल्लाकर वह बोली :—

—वे लोग बकबक नहीं कर रहे एक अच्छा फ़िल्म बना रहे हैं। बकबक तो करते हो तुम। आठों पहर बीज, खाद, निराई, कटाई ! कोई और बात ही नहीं रही तुम्हारे लिए।

—अरे आज तुम्हें क्या हुआ है ऊषा ? रमेश ने हैरान होकर पूछा और उसी समय बाहर अँधेरे आसमान में बिजली इतने ज़ोर से कौंधी की उनकी आँखें चौंधिया गयीं और क्षण भर बाद ही ऐसी भयानक कड़क सुनायी दी कि सारा घर हिल गया।

—रमेश, मैं बम्बई जा रही हूँ।

कुछ क्षण तक तो रमेश उसका मतलब नहीं समझा।—क्या कहा? बम्बई? मगर क्यों? कब?

ऊषा ने खिड़की की ओर मुँह फेर लिया।—मैं फ़िल्म में काम करने जा रही हूँ। दीप—मिस्टर दीप ने मुझे ऑफ़र दिया है।

—अच्छा यह बात है। तो दीप साहब तुम्हें भी फ़िल्म स्टार बनाना चाहते हैं। भई मुबारक हो। अब तुम भी अलका रानी की तरह रेशमी घाघरा चोली पहनकर 'छोड़ो छोड़ो जी मोरी कलैया' गाया करना। मगर भई अपनी फ़िल्मों के प्रीमियर पर हमें ज़रूर बुलाना। पहली फ़िल्म कौन-सी होगी? 'बम्बई की बिल्ली'? या 'बग़दादी हूर'

—रमेश! बिजली की कड़क की तरह ऊषा की आवाज़ गूँजी। —मैं मज़ाक़ नहीं कर रही हूँ सच कह रही हूँ। अब मैं यहाँ रहते-रहते तंग आ गयी हूँ।......

—तंग आ गयी हो, मगर क्यों?

—इसलिए कि ज़िंदगी में गेहूँ ही सब कुछ नहीं होता। गुलाब के फूलों का भी कोई महत्व है।

—तो तुम्हें गुलाब के पौधे चाहिएँ? वह तो मैं......

बात काटकर वह चिल्लायी—मैं गुलाब की दो झाड़ियों की बात नहीं करती, अपनी सारी ज़िंदगी की बात कर रही हूँ। तुमने इस फ़ार्म पर लाकर मुझे क़ैद कर दिया है। न रहने को ढंग का मकान, न पहनने को ढंग के कपड़े, न कोई मिलने-जुलने वाला, न सैर-तफ़रीह, हर तरफ़ उजड्ड गँवार, जिन्हें बात करने की भी तमीज़ नहीं। हर तरफ़ खाद की बू, ट्रैक्टर की खड़खड़। तुमने मेरी सारी ज़िंदगी को बेकार, निरर्थक, निरुद्देश्य बनाकर रख दिया है।"

रमेश को गुस्सा बहुत कम आता था, पर जब आता था तो बहुत ज़ोर से। ऊषा से भी ऊँची आवाज़ में वह चिल्ला कर बोला—

तुम इस ज़िंदगी को बे-मक़सद कहती हो ? तुम अनाज पैदा करने को बकवास समझती हो। अगर यही किसान, जिन्हें तुम उजड्ड गँवार कहती हो, कल काम करना बंद कर दें तो रोटी कहाँ से खाओगी ? बोलो ! क्या गुलाब के फूल सूँघकर ज़िन्दा रहोगी ?

बिजली एक बार फिर ज़ोर से कौंधी। एक क्षण के लिए सारा कमरा चकाचौंध कर देने वाली रोशनी से भर गया। एक कृत्रिम प्रकाश, जैसा थिएटर के स्टेज पर होता है या फ़िल्म स्टूडियो में शूटिंग के वक्त, और उस क्षण ऐसा लगा जैसे रमेश और ऊषा झगड़ते हुए पति-पत्नी नहीं हैं, बल्कि किसी पुराने ढंग के नाटक के हीरो-हीरोइन हैं जो कोई बड़ा ड्रामाई सीन कर रहे हैं। अगले क्षण बिजली का कौंदा लुप्त हो गया और ऐसा ज़ोर का तड़ाखा हुआ कि ऊषा के मुँह से अनायास 'उई' निकल गया।

—किसानों के लिए आवश्यक सूचना, किसानोंके लिए आवश्यक सूचना—रेडियो पुकार रहा था—उत्तर प्रदेश के तराई के इलाके में अचानक तूफ़ान, वर्षा और आँधी आने वाली है। सब काश्तकारों को चाहिए कि फ़सल की कटाई-पूरी करके अनाज गोदामों में रख दें, नहीं तो वर्षा के कारण नुक़सान पहुँचने का खतरा है। पहाड़ी इलाक़े में पिछले चौबीस घंटों में बारह इंच बारिश हुई है। इसलिए नदियों में बाढ़ आने का भी ख़तरा है। नदी के किनारे वाले इलाक़ों को होशियार रहना चाहिए।

—ऊषा, हमारी फ़सल !—रमेश के मुँह से एक चीख़ निकल गयी और उस क्षण वह अपना और ऊषा का सारा झगड़ा भूल गया। उसके दिमाग़ से सिर्फ़ एक चिंता, एक धुन रह गयी—किसी तरह फ़सल को बचाना चाहिए ?

बरामदे में पीतल का एक घंटा लटका हुआ था—ऐसे ही मौक़े

के लिए। फ़ार्म पर काम करने वालों को आदेश था कि उसके बजते ही डायरेक्टर के घर पर इकट्ठे हो जायें। रमेश ने मुंगरी लेकर घंटे को पीटना शुरू कर दिया। चन्द ही मिनट में दरजनों आदमी दौड़ते हुए आ गये।

—गँगुआ, सब आदमियों को जमा करो!—रमेश इस तरह आदेश दे रहा था जैसे लड़ाई से पहले कमाँडर अफ़सरों को आदेश देता है। जितनी कटाई होकर खेतों में पड़ी है, उसे बारिश होने से पहले गोदामों में फौरन पहुँचाना है और पिछले कोने पर जो खेत रह गया है, उसमें अभी कटाई करनी है। एक ट्रैक्टर और कम्बाइन तुम चलाओ एक मैं सम्हालता हूँ। फ़ार्म पर जितने मर्द, औरतें और लड़के हैं सबसे कहो दराँतियाँ लेकर पिल पड़ें। पानी गिरने से पहले-पहले सारे खेत कट जाने चाहिएँ!

—बहुत अच्छा रमेश बाबू, मगर...

—मगर-वगर कुछ नहीं गँगुआ. यह काम होना ही चाहिए।

—अँधेरे में कटाई कैसे होगी हजूर? गँगुआ का बूढ़ा बाप हाथ जोड़कर बोला।

रमेश को ऐसा लगा जैसे मोर्चे पर जाते वक्त अचानक किसी सेना नायक को मालूम हो कि उसके सिपाहियों के पास गोला-बारूद नहीं है।

कुछ क्षण तक सब ख़ामोश रहे। तभी पीछे से आवाज़ आयी, —रोशनी का प्रबन्ध मैं किये देता हूँ, रमेश जी।

सबने मुड़कर देखा। दीपकुमार एक भड़कीले रंग का ड्रेसिंग गाउन पहने खड़ा देख रहा था।—हमारे जेनरेटर और आर्क लैम्प कब काम आयेंगे? —उसने कहा

'आर्क लैम्प'—रमेश को ऐसा लगा जैसे निहत्थे लड़ते-लड़ते

उसके हाथ में एक चमकीली तलवार आ गयी हो।

—कितने आर्क लैम्प हैं आप के पास ?—उसने कहा।

—आठ हैं, जिस खेत में कटाई करनी है उसके लिए काफ़ी हैं। और फिर उसने चिल्लाकर अपने असिस्टेंट से कहा—अपने आदमियों से कहो, जेनरेटर और आर्क लैम्प सब उस खेत के किनारे-किनारे लगा दें। चलो जल्दी करो! ज़रा भी देर न होनी चाहिए।

यह कहकर उसने अपना ड्रेसिंग गाउन उतार फेंका और रमेश के साथ खेत की ओर भागा। ऊषा को लगा कि उस क्षण रमेश और दीप दोनों ने उसके अस्तित्व को भुला दिया है।

इस अप्रत्याशित कुमक के पहुँचते ही हल्ला शुरू हो गया। खेत के चारों ओर आर्क लैम्प जलवा दिये गये और उनके प्रकाश में रमेश और गँगुआ के ट्रैक्टरों ने कटाई का काम शुरू कर दिया। सौ से ज्यादा मर्द, औरतें और लड़के दराँतियाँ लेकर फ़सल पर टूट पड़े। बाक़ी लोग कटी हुई फ़सल को उठाकर गोदामों की तरफ़ दौड़ने लगे। आसमान पर काले-काले बादल उमड़े ही चले आ रहे थे। हवा में ठंडक और तेज़ी बढ़ती ही चली जा रही थी। बिजली बार-बार चमक और कड़क रही थी। लगता था वर्षा किसी क्षण भी शुरू हो जायेगी और आँधी कटी हुई फसल को उड़ाकर तितर-बितर कर देगी। हर आदमी, हर औरत और हर बच्चे के दिमाग़ में बस यही एक धुन थी कि किस तरह पानी और तूफ़ान से पहले फसल को बचा लिया जाय!

रमेश ट्रैक्टर को इस तरह चला रहा था जैसे वह ट्रैक्टर न हो, टैंक हो और वह गेहूँ की फ़सल न काट रहा हो, बल्कि शत्रु की पाँतों को चीरता हुआ आगे बढ़ रहा हो। लेकिन गँगुआ बड़े निश्चिंत भाव से अपना ट्रैक्टर चला रहा था और एक देहाती गीत गुनगुनाता जा रहा था।

आर्क लैम्प की रोशनी में उसने देखा कि उसके ट्रैक्टर की सीध में मुखिया की बेटी गोरी दराँती चला रही है। गोरी जो वास्तव में साँवली थी, पर उस रोशनी में कितनी सुन्दर दिखायी देती थी वह। गोरी जो बचपन में गँगुआ के साथ खेलती थी, पर अब एक-दो बरस से उससे शरमाने और घूँघट करने लगी थी।

—ओ गोरी! हट जा सामने से, गँगुआ महाराज की सवारी आती है!—वह हँस कर चिल्लाया। और गोरी में भी उस वक्त न जाने कहाँ से साहस आ गया। दराँती हाथ में लिये खड़ी हो गयी—अरे जाओ जाओ, गोरी की दराँती तुम्हारे ट्रैक्टर-फ्रैक्टर से ज़्यादा फ़सल काट दे सकती है।

कुछ ही दूर पर गँगुआ का बाप अपने बूढ़े, झुर्रियाँ पड़े हाथों मे दराँती चला रहा था।

उसके निकट गोरी के छोटे भाई-बहन मुन्नू और रज्जी छोटी-छोटी दराँतियाँ लिये काम कर रहे थे और खेत की मेंड पर खड़ी ऊषा यह सब देख रही थी। उसे जीवन में पहली बार यह महसूस हो रहा था कि सब काम कर रहे हैं और वह बेकार है।

उसने देखा कि एक बूढ़ी स्त्री काँपते हाथों से दराँती चला रही है। शायद उसकी चुंधी आँखों से दिखायी नहीं देता। ऊषा ने सोचा—कहीं यह बेचारी अपना हाथ न काट ले।

—लाओ माँ जी, मुझे दो, तुम आराम करो। उसने बुढ़िया से दराँती छीनते हुए कहा। पर उसे जल्द ही मालूम हो गया कि कटाई का काम जो देखने से बहुत आसान मालूम होता था, इतना सहज नहीं है। ज़मीन पर उकड़ूँ बैठने से उसकी टाँगें अकड़ गयीं, उसकी रेशमी साड़ी काँटों में उलझकर फट गयी। गेहूँ की सख्त बालों से उसके हाथों और बाँहों पर खरोंचे लग गये। कई बार ऐसा हुआ कि

उसने डंठल पकड़कर दराँती चलायी, लेकिन दराँती फिसल गयी। एक डंठल भी नहीं कटा। एक बार तो उसने अपना हाथ ही काट लिया। —हाय राम, मैं भी कितनी बेकार हूँ। इतना काम भी नहीं कर सकती —उसने सोचा। इतने में गोरी की बहन रज्जी ने उसका हाथ पकड़कर कहा—काकी, ऐसे नहीं, ऐसे काटते हैं। उसने दराँती चलाकर दिखायी कि उसे सीधा नहीं बल्कि कुछ टेढ़ा करके चलाते हैं।

—हट जाओ सामने से रमेश गुस्से से चिल्लाया, जब उसने देखा कि ठीक उसके ट्रैक्टर की सीध में कोई औरत फ़सल काट रही है।

—कौन ? ऊषा तुम ?

—हाँ तो और क्या ! तुम समझते हो कि मैं इतना काम भी नहीं कर सकती।

—शाबाश, बस अब थोड़ा-सा खेत रह गया है। तुम इन औरतों से कहो कि जितनी कटाई हो गयी है, उसे उठा-उठाकर गोदामों में रखें और ज़रा जल्दी। यह देखो बूँदें पड़ने लगी हैं।

ऊषा के हाथों पर, जो जिंदगी में पहली बार शारीरिक श्रम से गर्म और चूर हो रहे थे, पानी की एक बूँद पड़ी। और वह चिल्लायी —अरे सब जल्दी करो, जल्दी। उसने देखा कि गोरी कटी हुई फ़सल का एक बहुत बड़ा गट्ठर सर पर उठाने की कोशिश कर रही है और वह तत्काल उसकी मदद को दौड़ी।

जैसे ही बूँदें गिरने लगीं, हरेक के काम में तेज़ी आ गयी। दराँतियाँ ज़ोर से चलने लगीं, ट्रैक्टरों की गड़गड़ाहट तेज़ हो गयी, फ़सल ढोने वालों के क़दम तेज़ी से उठने लगे।

और फिर विजय का वह क्षण भी आया जब रमेश ने देखा कि खेत का आख़री कोना भी अब उस ट्रैक्टर की ज़द में आ गया है। अब बूँदा-बाँदी बाक़ायदा शुरू हो गयी थी, हवा भी तेज़ चल रही थी,

कटी हुई फ़सल उड़ने लगी थी; लेकिन काम करने वाले होशियार थे। उन्होंने गेहूँ की एक बाल को भी उड़कर खेत से बाहर नहीं जाने दिया था।

—गँगुआ बस! रमेश चिल्लाया—ट्रैक्टरों को वापस ले चलो नहीं तो भीगकर ख़राब हो जायेंगे।

उसी दम बारिश शुरू हो गयी और सीटी के साथ दीप की आवाज़ हवा में गूँजी—कट! रमेश ने आवाज़ की दिशा में मुड़कर देखा। दीप कैमरे के ऊपर छतरी सम्हाले खड़ा था।

—क्या तुमने इस सबका फ़िल्म उतारा है? रमेश ने कुछ चिढ़कर पूछा।

—हाँ, और क्या। ऐसा सीन रोज़-रोज़ थोड़े ही मिलता है। क्या क्लाइमेक्स बना है। मज़ा आ गया।

और रमेश ने सोचा, यह फ़िल्मवाले भी ज़िंदगी को बस अपने ही दृष्टिकोण से देखते हैं। इनकी बला से कोई मरे कोई जिये, अकाल पड़े या बाढ़ आये, फ़सल जल जाये या बह जाये, ये अपने कैमरे चलाते रहते हैं, अपने फ़िल्मी क्लाइमेक्स ढूँढ़ते रहते हैं।

मगर तुम्हारे फ़िल्म के क्लाइमेक्स में तो हीरो ट्रैक्टर छोड़कर गाना गाता हुआ हीरोइन के पीछे भागता है—उसने चिल्लाकर कहा।

—वह सब बदल गया। अब क्लाइमेक्स यही होगा।

अब मूसलाधार बारिश हो रही थी। ऊषा, जिसकी फटी हुई साड़ी शराबोर होकर उसके बदन से चिपक गयी थी, दूर से चिल्लायी—अरे भई बहस घर चलकर करना, भीगकर निमोनिया का शिकार होना है क्या!

—रमेश बाबू, रमेश बाबू!—कोई नदी के तरफ़ से दौड़ा चला आ रहा था।

—क्या है, मातादीन ?

इससे पहले कि मातादीन कोई जवाब देता, एक आर्क लैम्प धमाके के साथ फटा। जलते हुए बल्ब पर पानी की बूँद गिर गयी और एकाएक सारे लैम्प फ्यूज़ हो गये। अँधेरे में आवाज़ आयी—रमेश बाबू, नदी में बाढ़ आ रही है।

रमेश ने ऐसे संकट के लिए ही फ़ार्म पर रेत के बोरे भरवाकर रखे थे। वह चिल्लाया—गगुआ! मातादीन! सब लोगों को साथ लो और रेत की बोरियाँ नदी के किनारे पहुँचवा दो। मैं भी वहीं जाता हूँ।—बिजली चमकी तो उसने देखा कि ऊषा और दीप वहीं खड़े भीग रहे हैं—ऊषा तुम घर जाओ और दीप साहब आप भी। अपने लोगों और सामान को ख़ेमों से निकालकर हमारे घर में ले आइए।

—यह सब काम मेरे आदमी देख लेंगे। मैं आपके साथ चलता हूँ।

अँधेरे को सम्बोधित करते हुए रमेश ने कहा और उसके अन्दाज़ में कटुता और जलन थी—यह जान-जोखम का काम है मिस्टर दीप, कोई फ़िल्म का सीन नहीं जो आप कैमरे से ले लेंगे।

जब वह नदी के किनारे पहुँचा, जहाँ बाँध को तोड़कर पानी की एक तेज़ धारा नीचे की ओर बह रही थी तो उसने देखा कि फ़ार्म के सब लोग, जो थोड़ी देर हुई, दराँतियाँ चला रहे थे, अब रेत की बोरियाँ उठा उठाकर ला रहे हैं। रमेश उनको बाँध के टूटे हुए हिस्से में डलवाता रहा—इधर नहीं उधर!—अरे यह बोरी उधर रखो—बिजली कौंधी तो रमेश ने देखा कि बोरियाँ रखवाने वालों में दीप भी है। हैरत और गुस्से से वह चिल्लाया—मिस्टर दीप, आप यहाँ क्या कर रहे हैं? जाइए-जाइए, आपको कुछ हो आयेगा तो दोष मुझी को दिया जायगा।

उसी दम एक आदमी ने आकर कहा—रमेश बाबू जल्दी कीजिए,

बाँध एक और जगह से भी टूट गया है...”

सो रात भर अँधेरे में यह युद्ध लड़ा जाता रहा। यहाँ तक कि भिनसारा हो गया। बारिश का ज़ोर कुछ कम हो गया। थककर रमेश और दीप दोनों रेत की बोरियों पर बैठ गये और लोग काम ख़त्म करके अपने घर जाने लगे।

—कहिए मिस्टर दीपकुमार, आप जैसे कलाकार को तो इस रात में अपने फ़िल्मों के लिए बहुत-सी सामग्री मिल गयी होगी?—ईर्ष्या की चुभन अब तक उसके हृदय में डंक मार रही थी।

—इसमें क्या शक है। मगर मालूम यह हुआ कि ज़िन्दगी फ़िल्म से कहीं ज्यादा दिलचस्प और नाटकीय है।

—जी हाँ, आपको तो यह सब भी फ़िल्म का सिनारियों ही मालूम होता होगा। हीरो और विलेन दोनों मौजूद हैं।—उसने दीपकुमार की आँखों में आँखें डालकर कहा—सिर्फ़ हीरोइन की कमी है।

—तो लीजिए हीरोइन भी आ पहुँची - दीपकुमार ने जो खेतों की ओर मुँह किये बैठा था, उधर संकेत किया और रमेश ने देखा--उसकी बरसाती पहने, पानी से भरे हुए खेतों में से होती हुई ऊषा चली आ रही है। वह निकट आयी तो उन्होंने देखा कि उसके कंधों पर थरमास लटका हुआ है और हाथ में बिस्कुटों का डिब्बा है।

—आप लोगों के लिए चाय लायी हूँ—उसने कहा।—रात भर भीगे हैं कहीं सर्दी न लग जाय!

वह गिलास में चाय उँडेल रही थी कि नदी की तरफ़ से ठंडी हवा का एक झोंका आया और दीप कुमार ज़ोर से छींका।

—पहले इन्हें दो। यह बम्बई के नाजुक लोग हैं, कहीं निमोनिया न हो जाये।

ऐसे कचोके लगाने में रमेश को एक अजीब मज़ा आ रहा था।

दोनों को चाय देकर ऊषा किनारे की तरफ़ गयी जहाँ से बाँध टूटा हुआ था और उस जगह को झुक कर देखने लगी।

—यह सारा हिस्सा टूट गया था क्या ? बड़ी ख़ैरियत हुई कि तुम लोग आ गये नहीं तो...

इतना ही कहने पायी थी कि उसके भीगे सेंडिल किनारे की चिकनी मिट्टी पर फिसले और वह नदी के तेज़ बहाव में जा गिरी।

—ऊषा !—दीप और रमेश चिल्लाये और इससे पहले कि रमेश कुछ करे दीपकुमार पानी में कूद गया।

रमेश जो तैराकी में निपुण था कुछ दूर किनारे-किनारे बहाव की दिशा में दौड़ा, फिर पानी में कूदा और कूदते ही उसे मालूम हुआ कि उसे ऊषा को ही नहीं दीप को भी बचाना पड़ेगा। ऊषा को रमेश ने थोड़ा बहुत तैरना सिखाया था और वह किसी न किसी तरह अपने आपको सम्हाले हुए थी। सिर्फ़ तेज़ बहाव का डर था कि कहीं से कहीं न पहुँचा दे। लेकिन दीप ? उसको तो हाथ-पाँव मारना भी न आता था। डुबकियों पर डुबकियाँ खा रहा था। रमेश ने पहले उसे सम्हालना चाहा, पर दीप ने घबराकर रमेश को इस बुरी तरह पकड़ लिया कि उसे भी नीचे ले बैठा। एक डुबकी खाकर जब दोनों एक दूसरे से लिपटे हुए पानी के ऊपर आये तो तैरते-तैरते ऊषा यह देखकर चीख़ पड़ी कि रमेश ने एक ज़ोर का घूँसा दीप की कनपटी पर रसीद किया और वह बेचारा बेहोश होकर उलट गया। मगर उसी दम रमेश ने उसके घुँघराले बाल मज़बूती से बायें हाथ में पकड़ लिये और उसी तरह उसे घसीटता हुआ, दायें हाथ से तैरता हुआ, ऊषा के निकट पहुँचा। थककर और बोझल बरसाती में उलझ कर वह भी डुबकी खाने ही वाली थी कि रमेश उसके निकट पहुँच गया। उसने पहला काम यह किया कि ज़ोर का झटका देकर बरसाती को उतार फेंका और ऊषा की तरफ़

दायां हाथ बढ़ाकर चिल्लाया—मेरा हाथ मज़बूती से पकड़ लो ऊषा और किनारे की तरफ़ तैरने की कोशिश करो। मुझे इस बजरबट्टू को भी सम्हालना है।

जान के ख़तरे के बावजूद बजरबट्टू का शब्द सुनकर और दीप कुमार के बेहोश चेहरे को देखकर ऊषा को हँसी आ गयी और जब उसने रमेश के ट्रैक्टर चलाने वाले मज़बूत हाथ की पकड़ अपने हाथ पर महसूस की तो उसे ऐसा लगा कि तूफ़ान थम गया है और अब उसको कोई ख़तरा नहीं है।

गँगुआ

दीप कुमार प्रोडक्शन वालों को स्टेशन छोड़कर रमेश और ऊषा जीप में वापस आ रहे थे।

—रमेश !

—हूँ !

—मुझे माफ़ कर दिया तुमने ?

—दोष तो मेरा था, ऊषा।

—तुम्हारा ?

—हाँ मेरा। गुलाब के फूल भी ज़िन्दगी में उतने ही अहम हैं जितनी गेहूँ।

—फिर ?

—फिर मैंने सरकार को लिखा है कि फ़ार्म के लोगों के लिए भी एक सिनेमा होना चाहिए ताकि हम लोग भी दीप कुमार के फ़िल्म देख सकें। ख़ास तौर पर उसका अगला फ़िल्म 'नया हिन्दुस्तान'—जिसकी शूटिंग हमारे फ़ार्म पर हुई है।

—और ?

—और इस साल छुट्टी मिलेगी तो मैं पिछले साल की तरह यहीं बैठकर रिसर्च नहीं करूँगा।

फिर क्या करोगे ?

हम दोनों बम्बई जायँगे। दीप कुमार ने अपने स्टूडियो में आने की दावत दी है। उसकी शूटिंग देखेंगे।

—मुझे शूटिंग देखने का कोई ख़ास शौक नहीं है।

—पर मुझे तो शौक़ है। मैं दीप कुमार को उसके अपने वातावरण में देखना चाहता हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि आदमी बुरा नहीं है। लेकिन हर व्यक्ति का अपना काम होता है, अपना वातावरण होता है। उसके बाहर वह बौखला जाता है, जैसे नदी में कूदकर वह बेचारा बौखला गया था। मुझे यक़ीन है कि अगर स्टूडियो में मुझे केमरे के सामने मेक-अप करके खड़ा कर दिया जाय तो डर के मारे मुझे पसीना आ जाये। जानती हो कि जाते-जाते दीप मुझसे क्या कह गया है ? कहता था कि रमेश तुम्हारे इस फ़ार्म पर इन पन्द्रह दिनों में मैंने ज़िन्दगी के बारे में बहुत कुछ सीखा है। इस नयी समझ-बूझ की झलक तुम्हें मेरे अगले फ़िल्मों में देखने को मिलेगी। तभी तो मैं यहाँ सिनेमा बनवाना चाहता हूँ और दीप कुमार की फ़िल्में देखना चाहता हूँ।

—फिर दीप कुमार की बात !

क्यों, तुम उससे कुछ ख़फ़ा मालूम होती हो। तुमसे अलग कुछ कह रहा था ? लगता है कुछ ऐसी-वैसी बात कह दी, जिससे तुम नाराज़ हो गयीं।

वह अपने आपको समझता क्या है ? कहने लगा मिसेज़ रमेश, आप फ़िल्मों में कामयाब नहीं हो सकतीं। आपकी आँखें कुछ बड़ी और नाक कुछ छोटी है। बड़ा आया लम्बी नाक वाला !

इतने में घर आ गया। जीप से उतर कर रमेश ने ऊषा को सहारा देकर उतारा फिर बोला—आओ, अब मैं तुम्हें एक चीज़ दिखाऊँ।

—दिखाओ, तो फिर मैं भी तुम्हें एक बात बताऊँगी।

—वह देखो तुम्हारे गुलाब कितने ख़ूबसूरत खिले हैं...

गुलाब की झाड़ियाँ मकान के पीछे बाग़ में लगी थीं, पर उनमें फूल एक भी नहीं था।

—ये फूल किसने चुराये ?

—मैंने, रमेश बाबू।

गँगुआ खड़ा मुस्करा रहा था और उसकी झोली में सुर्ख़, गुलाबी और सफ़ेद गुलाब के ताज़ फूल भरे हुए थे।

—क्षमा कीजिए, रमेश बाबू। मैंने आपकी आज्ञा के बिना यह फूल तोड़ लिये हैं। लेकिन बात यह है कि आज मेरी शादी है...सो मैंने...अगर आप चाहें तो फूल ले लीजिए।

—नहीं गँगुआ ऊषा जल्दी से बोली—तुम सब फूल ले जाओ। मेरी ओर से दुल्हन को भेंट कर देना और हाँ शादी हो जाय तो गुलाब की एक क़लम यहाँ से ले जाना और अपने घर के बाहर ज़रूर लगाना, समझे।

—जी ज़रूर ! तो मैं यह सब ले जाऊँ ?

—ले जाओ रमेश ने आज्ञा दे दी -मगर एक फूल मुझे दे जाओ—और उसने एक ख़ून के रंग का सुर्ख़ गुलाब चुन लिया।

गँगुआ चला गया।

—देखा तुमने ? गँगुआ भी गुलाब के फूल को कितना पसन्द

करता है।

लेकिन यह भी देखा कि गँगुआ ट्रैक्टर चला कर गेहूँ कितना पैदा करता है।

—गँगुआ बड़ा ख़ुश नज़र आता है ना !

—शादी भी तो गोरी से हो रही है ; जानते हो कितनी ख़ूबसूरत है वह।

—तुमसे ज्यादा ख़ूबसूरत थोड़े ही है।

—गँगुआ के दिल से पूछो।

—अच्छा तो मेरे दिल से भी पूछो—और यह कह कर उसने ऊषा के जूड़े में गुलाब का फूल लगा दिया और उसके बालों को हल्के से चूमते हुए कहा—अब बताओ वह बात।

—लाओ कान यहाँ।

—सच ?

—सच !

—हूँ !

—एक छोटी-सी मुन्नी-सी ऊषा।

—हूँ, एक छोटा मुन्ना-सा रमेश।

—ऊषा वह देखो !

—ऊषा ने मुड़कर देखा।

गुलाब की झाड़ियों पर एक छोटी सी मुन्नी-सी गुलाबी-गुलाबी कली एक मासूम नवजात शिशु की तरह मुस्करा रही थी।......

लाल और पीला

चारों दीवारों पर तस्वीरें बनी हुई थीं। श्यामवर्ण कृष्ण गोरी-गोरी, पतली कमरवाली गोपियों से खेल रहे थे। सफ़ेद पैरोंवाले हंस कमल के फूलों के बीच पानी में खड़े थे। एक मुग़ल शाहज़ादी झरोखे से अपने घुड़सवार प्रेमी को झाँक रही थी। महात्मा बुद्ध समाधि लगाये मुक्ति के ध्यान में खोये हुए बैठे थे। एक राजपूत सुन्दरी दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखने में तल्लीन थी...सुन्दर चेहरे, सुडौल शरीर, कटीली आँखें, उभरे हुए वक्ष, लम्बे-लम्बे काले बाल, खिले हुए फूल, नाचते हुए मोर...और ऊपर छत पर रंग-बिरंगे बादल नीले आकाश में तैर रहे थे और इन बादलों में से होता हुआ भगवान इन्द्र का सुनहरा रथ चला जा रहा था...

गोपाल के उस छोटे अँधेरे-से कमरे में कला का संसार आबाद था, कल्पना का माया बाज़ार लगा हुआ था। यहाँ सौन्दर्य था, रोमांस था, रंगीनी थी, मिठास थी, शांति थी।

मगर जब खिड़की में से उसने बाहर देखा तो वहाँ यथार्थता का संसार बसा हुआ नज़र आया। नीचे गली के बीचोंबीच एक गन्दी नाली बह रही थी। एक तरफ़ कूड़े का ढेर लगा हुआ था, एक खुजली का मारा हुआ कुत्ता एक मरियल-सी, गन्दी-सी बिल्ली को काटने के लिए दौड़ रहा था। मोटे-मोटे चूहे कूड़े के ढेर में ऐसी शांति से घूम रहे थे जैसे यह उनके सैर करने की कोई पहाड़ी सड़क हो। गन्दी नाली के किनारे एक अधनंगा बच्चा दिशा फ़रागत के लिए बैठा था। नुक्कड़ वाली पनवाड़न की दूकान के सामने कुछ देहाती खड़े बीड़ी पी रहे थे और पनवाड़न से हँसी-मज़ाक कर रहे थे। बच्चे, जो एक-दूसरे के पीछे लगे हुए रेल का खेल खेल रहे थे, एक तरफ़ से आये और छुकछुक करते, सीटी बजाते हुए दूसरी तरफ़ से गुज़र गये। सामने वाली 'चाल' के पीछे ही एक एल्यूमिनियम के बर्तनों का कारख़ाना था, जिसकी ठकठक, खटखट, धड़धड़ दिन-रात चलती रहती थी। 'चाल' की छत से मिली हुई कारखाने की चिमनी थी जो धुआँ उगलती रहती थी और जब हवा इधर की होती, धुआँ इन सब 'चालों' की खिड़कियों में से अन्दर आ जाता और प्रत्येक चीज़ पर– दीवारों पर, कपड़ों पर, बिस्तरों पर— काला पाउडर मल देता। इसलिए जहाँ तक होता, गोपाल अपने कमरे की खिड़कियाँ बन्द ही रखता था कि कहीं कारख़ाने का धुआँ उसकी तसवीरों को ख़राब न कर जाय......इसके अतिरिक्त खिड़की के बाहर का दृश्य उसे सदा बहुत बुरा लगता था। जब भी वह खिड़की खोलता, उसे गन्दगी के ढेर और गन्दी नाली देखकर बेहद कष्ट होता था और जितनी जल्दी सम्भव होता, वह खिड़की बन्द करके फिर अपने कला-भवन में बन्द हो जाता, सुन्दर चित्रों में गुम हो जाता और बाहर की यथार्थता और उसकी गन्दगी, बदबू और शोर को भूल जाता।

मगर आज गर्मी बहुत थी; बन्द कमरे में दम घुट रहा था।

इसलिए धुएँ की परवाह न करते हुए गोपाल ने खिड़कियों के पट खोल दिये। बाहर से ठंडी हवा के साथ बदबू का एक झोंका आया और उसके साथ ही कारख़ाने की चिमनी के धुएँ का गुबार। मगर आज उसने खिड़की खुली रखी और देर तक गली में आने-जाने वालों को देखता रहा एक नयी नज़र से, और आज उसे यह गली एक नयी गली नज़र आयी...

गोपाल एक मज़दूर था। वह सामनेवाले एल्यूमिनियम के कारख़ाने में काम करता था। मगर वह एक कलाकार भी था, जो पेट पालने के लिए मज़दूरी करने पर मजबूर था। उसने अपने जीवन को दो भागों में बाँट रखा था। चौबीस घंटों में से आठ घंटे वह कारख़ाने की गर्म और बदबूदार हवा में पसीने में नहाये हुए मैले-कुचैले कपड़े पहने, मज़दूरों के साथ काम करता। बाकी सोलह घंटे वह कल्पना और कला की दुनिया में विचरता—एक रोमानी दुनिया में, जहाँ न मज़दूर थे, न कारख़ाने, न धुआँ, न बदबू, न गन्दी नाली। बस सुन्दर रंग थे, सुन्दर चेहरे थे, फूलों से ढकी हुई हरी-भरी वादियाँ थीं, ऊँचे-ऊँचे बर्फ़ीले पहाड़ थे। जब तक वह अपने कमरे में रहता, इसी दुनिया में खोया रहता। कारख़ाने से जो कुछ भी मज़दूरी मिलती उसमें से कमरे का किराया देने और एक समय खाना खाने के बाद जो कुछ बचता उससे रंग ख़रीदता—आयल-पेंट, वाटर-कलर, कैनवस, काग़ज़—और चित्र बनाता रहता। देवताओं के चित्र, जिनकी आकृति उसके मस्तिष्क में बचपन से जमी हुई थी; उन सुन्दर स्त्रियों के चित्र, जो केवल उसकी कल्पना में बसती थीं; उन फूलों के चित्र, जिन्हें उसने कभी सूँघा नहीं था; उन फलों के चित्र, जिनको वह कभी ख़रीदकर खा न सका था... कुछ घंटों के लिए वह सोता तो भी वह इन चित्रों को सपने में देखता रहता और कभी-कभी सपने में उसे कोई ऐसा सुन्दर दृश्य दिखायी दे

जाता कि वह बेचैनी से उठ खड़ा होता और रोशनी जलाकर पेंट करना आरम्भ कर देता। उसने सैकड़ों कैनवस लाल-पीले कर डाले थे। जब कैनवस ख़रीदने के दाम न होते, तो काग़ज़ पर चित्र बनाता; काग़ज़ समाप्त हो जाते तो दीवारों पर, छत पर, यहाँ तक कि टूटी हुई कुर्सी के तख़्ते पर भी दोनों तरफ़ उसने चित्र बना डाले थे...

मगर जिन चीज़ों के वह चित्र बनाता, उनका उसके अपने जीवन से कोई दूर का सम्बन्ध भी नहीं था। इस जीवन में भला सौन्दर्य कहाँ था? यहाँ तो ग़रीबी, मेहनत, गन्दगी, बदबू थी और गोपाल का विचार था कि इन चीज़ों का कला से कोई सम्बन्ध नहीं है। कला को केवल सुन्दर चीज़ों से सरोकार होना चाहिए और ख़ूबसूरती गोपाल को केवल अपनी कल्पना में मिल सकती थी...

गोपाल चित्र क्यों बनाता था? इसका उत्तर शायद वह आप भी न दे सकता था। उसका कोई चित्र आज तक न बिका था। किसी पत्र में उसके चित्रों का उल्लेख कभी न छपा था। कला की दुनिया में कोई उसका नाम भी न जानता था। फिर वह चित्र क्यों बनाता था?

शायद इसलिए कि उसका पिता त्यौहारों के अवसर पर मिट्टी से देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाया करता था और बचपन से गोपाल को अपने पिता के रंग चुराकर काग़ज़ पर रेखाएँ खींचने का शौक हो गया था। शायद इसलिए कि स्कूल में ड्रॉइंग की क्लास के सिवाय और किसी काम में उसका जी न लगता था और ड्रॉइंग-मास्टर ने उसके बनाये हुए चित्रों को देखकर उसकी हिम्मत बढ़ायी थी। शायद इसलिए कि गोपाल ग़रीब था और एक गन्दी गली में एक बदबूदार 'चाल' में रहता था और उसे अपने मन की भड़ास निकालने के लिए एक निकास की आवश्यकता थी। अनाथ और ग़रीब गोपाल के दिल में सौन्दर्य, नर्मी, और प्रेम की एक अजीब प्यास थी जिसको वह चित्र

बनाकर ही वह बुझा सकता था।

गोपाल चित्र क्यों बनाता था? शायद इसलिए कि जब वह सत्रह बरस का था, उसने एक लड़की से प्रेम किया था—एक लड़की से, जो उसके पड़ोस में रहती थी, जो सुन्दर थी, जो अमीर बाप की बेटी थी और ग़रीब गोपाल की पहुँच से बाहर थी और इसलिए इस प्रेम का वह कभी प्रदर्शन न कर सका था। वह मुहब्बत उसके दिल-ही-दिल में घुटी रही थी, मगर बुझी नहीं थी। राख में दबी हुई चिंगारी की तरह वह चुपचाप सुलगती रही थी—और बरसों बाद, जब वह अपना क़स्बा छोड़कर बम्बई आ गया था और वह लड़की एक डिप्टी कलक्टर के चार बच्चों की माँ बन चुकी थी -अब भी मुहब्बत की वह भावना गोपाल के दिल में सुलग रही थी। और उसको व्यक्त करने का भी इन तसवीरों के सिवाय दूसरा कोई तरीका नहीं था। गोपाल ने रजनी को सिर्फ़ देखा था, कभी उससे बात भी न कर पाया था। बस दूर से उसकी पूजा की थी। और इसलिए अब भी बड़े आदर और श्रद्धा से अपने चित्रों में गोपाल उसकी पूजा कर रहा था, कभी सरस्वती के रूप में, तो कभी शकुन्तला के रूप में, कभी मुग़ल शाहज़ादी की पोशाक में तो कभी राजपूत राजकुमारी के सिंगार में। पुजारी की निगाहों ने रजनी को एक साधारण लड़की से अमर सुन्दरता की एक पुतली बना दिया था—एक कवित्वमयी रचनाएक देवी—जिसका इस दुनिया की चलती-फिरती बोलती-चालती सुन्दर लड़कियों से कोई सम्बन्ध न था, जिसकी आँखें मृग-शावक की आँखें थीं, कमर इतनी पतली, जैसे थी ही नहीं और हाथों की उँगलियाँ इतनी नाज़ुक ..

आज गोपाल फिर रजनी की याद को एक नये चित्र के साँचे में ढालना चाहता था। अगले महीने शहर में एक कलाप्रदर्शिनी होनेवाली थी और गोपाल उसमें एक नया चित्र बनाकर भेजना चाहता था—

ऐसा चित्र जिसमें उसकी सारी कला का निचोड़ हो, जो सचमुच अद्वितीय हो, जिसे देखकर हर कोई उसकी निपुणता का लोहा मानने पर मजबूर हो जाय...कौन जानता है, शायद उसके चित्र को पुरस्कार भी मिल जाय...मगर उसका असली ध्येय न पुरस्कार था, न प्रसिद्धि। वह तो अपने मन में सुलगते हुए प्रेम को कला के रूप में अमर कर देना चाहता था—रजनी का एक ऐसा चित्र बनाकर, जिसमें उसका सारा सौंदर्य, उसकी जवानी, उसकी आँखों की मस्ती, उसके सुडौल शरीर का हर अंग ऐसी सुन्दरता से उभर आय कि दुनिया देखे और वाह-वाह करे। शायद रजनी भी इस चित्र को कहीं देखे...और इतने वर्षों के बाद इस चित्र की ज़बान से गोपाल अपने गूंगे प्रेम का संदेश रजनी तक पहुँचा सके...

हाँ, तो आज वह रजनी का चित्र बनाना चाहता था, मगर नहीं बना सकता था। ख़ाली कैनवस चौखटे पर चढ़ा हुआ उसके ब्रुश की मार का इन्तज़ार कर रहा था, मगर रजनी के गालों में लाली भरने के लिए गुलाबी रंग चाहिए था और आज गोपाल के पास लाल रंग ख़त्म हो चुका था। बाज़ार से नया रंग ख़रीदने के लिए पैसे भी जेब में नहीं थे। इतना लाल रंग भी नहीं था कि तसवीर में रजनी के माथे पर बिन्दी ही बना सके...

फिर उसने सोचा कि मैं रजनी की तसवीर नहीं, बल्कि भगवान कृष्ण के बालकपन की तसवीर बनाऊँगा; उनके सुन्दर श्याम शरीर में बचपन का भोलापन और नर्मी भर दूँगा; उनके चेहरे पर अमर बचपन की चंचलता और चपलता होगी ..मगर आज उसके पास नीला रंग भी तो नहीं था।

तो फिर फूलों से ढकी हुई एक हरी-भरी पहाड़ी—दूर सूरज डूब रहा हो—सुन्दर पहाड़िनें सिरों पर गागरें उठाये झरने से पानी ला रही

हों—मगर उसके पास हरा रंग भी नहीं था।

लाल रंग नहीं था। गुलाबी नहीं था। ६ॅ. नहीं था। नीला नहीं था। सुनहरा नहीं था। गेरुआ नहीं था—बस एक रंग बाकी रह गया था—काला, स्याह रंग—क्योंकि इस रंग का अब तक उसने अपने चित्रों में कभी उपयोग न किया था।

मगर काले रंग से कोई सुन्दर रोमानी चित्र थोड़े ही बनाया जा सकता है? काला तो उदासी का रंग है, ग़रीबी और बदसूरती का रंग है। काले रंग से रजनी की तसवीर नहीं बनायी जा सकती, बाल-गोपाल की तसवीर नहीं बन सकती, न किसी सुन्दर राजकुमारी की, न शाहज़ादी की। न हरी-भरी फूलों से लदी पहाड़ी की, न रँगीले सूर्यास्त की। इस बदसूरत, अशुभ रंग से तो बस अँधेरी, गंदी, बदबूदार गली की तसवीर ही बन सकता है...

इस गली की तसवीर? नहीं-नहीं, यह कैसे हो सकता है? भला ऐसे भयानक दृश्य का तसवीर कौन देखना पसन्द करेगा? मगर...

इस बार गोपाल ने खिड़की के बाहर झाँककर नीचे गली को देखा तो उसे 'चालों' की टेढ़ी मेढ़ी दीवारों में, उनके ऊपर छायी हुई चिमनी और उमसे निकलते हुए धुएँ में, खेलते हुए बच्चों में, पनवाड़ी की दुकान के आगे लगी हुई भीड़ में एक अजीब, अनोखा कलात्मक नक्शा उभरता हुआ दिखायी दिया। 'चालों' की दीवारें एक दूसरे पर इस बेढंगे अन्दाज़ से गिरीं पड़ रही थीं, जैसे लड़खड़ाते हुए शराबी एक दूसरे का सहारा लेने की कोशिश कर रहे हों। दीवारों के साये ज़मीन पर काले त्रिकोण बना रहे थे। रोशनी और साया, साया और रोशनी। ढलते हुए सूरज की तिरछी किरणों ने एक तरफ़ की दीवारों पर पीला-पीला उजाला कर रखा था और दूसरी तरफ़ साया। प्रकाशमान दीवारों पर काली-काली खिड़कियाँ ऐसी लगती थीं जैसे

अंधी दृष्टिहीन आँखें हों। खेलते हुए ग़रीब बच्चे कठपुतलियाँ लगते थे और उनके लम्बे, तिरछे साये ऐसे लग रहे थे जैसे उनके भयानक भविष्य की परछाईं अभी से उनके साथ लगी हो। मरियल बिल्ली के पीछे दौड़ता हुआ खुजली-मारा कुत्ता किसी हज़ारों वर्ष पुराने युग की याद दिला रहा था जब जंगल का क़ानून चलता था और हर बलवान पशु अपने से कमज़ोर पशु को हड़प कर जाना अपना अधिकार समझता था। दीवार के नीचे खड़े हुए मज़दूरों की मैली धोतियों में से निकली हुई काली टाँगें ऐसी लगती थीं, जैसे वे पतले-पतले काले स्तम्भ हों, जिन पर उस सारी ऊँची इमारत का बोझ हो। और खपरैल की तिकोनों के ऊपर कारख़ाने की चिमनी एक बड़ी डरावनी उँगली की तरह आसमान की तरफ़ इशारा कर रही थी— उसमें से निकलता हुआ धुआँ आसमान में इस तरह फैल रहा था जैसे कोई काली शैतानी पताका हवा में लहरा रही हो।

गोपाल को, जो इस गली से और इसकी हर चीज़ से नफ़रत करता था, आज इस दृश्य में एक तसवीर उभरती नज़र आयी, एक भयानक तसवीर। मगर उसे ऐसा महसूस हुआ कि शायद इस अँधेरे, बदसूरत, भयानक दृश्य को पेंट कराने के लिए ही भाग्य ने उससे सारे सुन्दर लाल और पीले और नीले और हरे रंग छीन लिये थे...

और फिर उसने सोचा, अच्छा, ऐसा है तो यही सही। दो साल से मैं देवी-देवताओं, राजकुमारियों और शाहज़ादियों की रंग बिरंगी तसवीरें बनाता रहा हूँ, मगर दुनिया ने उन्हें आँख उठाकर भी नहीं देखा। मैं अपनी कला के मंदिर में रजनी की पूजा करता रहा हूँ, मगर उसने कभी मुझे भूले से भी याद नहीं किया। मैंने उसके चरणों में इन्द्र धनुष के सारे रंग धर दिये, मगर उसने मेरी भेंट को कभी स्वीकार न किया। मैंने अपनी कला के लिए मज़दूरी करके, भूखा

रहकर, अपनी नींद और आराम और अपने ख़ून की भेंट दी, मगर उसका वरदान मुझे क्या मिला ?...अब मैं भयानक चित्र बनाकर ही इस दुनिया और इस समाज से बदला लूँगा ताकि लोग देखें कि कहाँ और किस हाल में और किस वातावरण में ग़रीब गुमनाम कलाकार अपना जीवन बिता रहे हैं। और उसी क्षण चित्र का नाम भी बिजली की तरह कौंधता हुआ उसके दिमाग़ में आ गया—'जहाँ मैं रहता हूँ!' अपने रंगों के डिब्बे को उठाकर वह खिड़की तक लाया और उसमें से लाल और नीले और पीले और हरे रंगों के ख़ाली पिचके हुए ट्यूब उसने बाहर गली में फेंक दिये और काले रंग की एक भरी हुई ट्यूब ऐसे उठाली जैसे यही उसका हथियार हो।

दो दिन और दो रात वह बराबर इस चित्र पर काम करता रहा। खाना-पीना, नहाना-धोना, कपड़े बदलना—सब कुछ भूल गया.. उसके दिमाग़ में धुन थी तो यही कि इस अँधेरी गन्दी गली की तसवीर में उस सारे समाज की तसवीर खींचकर रख दे, जो इस अँधेरे और इस गन्दगी को परवान चढ़ाती है—यहाँ तक कि उसके कैनवस पर न सिर्फ़ गली की आकृति नज़र आने लगी, बल्कि उस गली की आत्मा भी उभर आयी। इस आत्मा की चेतना गोपाल को पहली बार हुई थी—तसवीर बनाते हुए उसने अपनी गली को एक नये ढंग से देखा था—और उसकी निगाह गली की गन्दगी और अँधेरे को चीरती हुई उस मनुष्यता तक पहुँची थी जो इस गन्दगी और अँधेरे में छिपी हुई थी। अब गोपाल ने देखा कि उसकी गली ईंट-पत्थर-लकड़ी के ढेरों से मिल कर नहीं बनी, बल्कि उन इन्सानों की ज़िन्दगी के ताने-बाने से बनी है, जो इसमें रहते हैं। पहली बार उसने देखा कि यहाँ के रहनेवाले जान-बूझकर गन्दे नहीं रहते—बल्कि गन्दा रहने पर मजबूर हैं। उसने देखा कि पनवाड़न की दुकान के सामने लगा हुआ नल सिर्फ़ दो-तीन

घंटे के लिए चलता है—वह भी बड़े सवेरे, जब आसपास की सब 'चालों' की औरतें अपनी-अपनी गागरें लेकर पानी भरने आती हैं और पानी की एक-एक कीमती बूँद पर कितना लड़ाई झगड़ा होता है और फिर नल में पानी आना बन्द हो जाता है और कितनी ही औरतें खाली गागरें लिए म्यूनिसिपैलिटी को गालियाँ देती हुई वापस चली जाती हैं। सो उसने अपने चित्र में सुबह का समय ही रखा और दिखाया कि औरतों की कतार खाली गागरें लिये प्रतीक्षा में खड़ी हैं। एक गागर नल के नीचे रखी है और नल में से पानी की एक बूँद—सिर्फ़ एक बूँद—टपक रही है। अब गोपाल ने देखा कि इस गली के निवासी गन्दे हों, मगर बुरे नहीं थे; वे आपस में लड़ते थे, गाली-गलौज करते थे, मगर उनके दिलों में क्रोध और लोभ नहीं था। वे मेहनत-मज़दूरी से झुके-झुके परेशान ज़रूर रहते थे, मगर उनके चेहरों पर से मुस्कराहट बिलकुल ग़ायब न हुई थी। वे अब भी हँस सकते थे और हँसते थे। और गोपाल ने कोशिश की कि यह सब कुछ उसके चित्र में आ जाय। मगर जब तसवीर बनकर तैयार हुई तो गोपाल को संतोष न हुआ। उसे महसूस हुआ कि चित्र में किसी तत्व की कमी है गली की उस आत्मा की कमी, जो वहाँ के वासियों की हँसी, मुस्कराहट, चीख़-पुकार और बच्चों के खेल-कूद में व्यक्त होती थी। उस आशा की कमी थी, जो उस गली के रहनेवालों के दिल में अभी तक ज़िन्दा—थी—मगर उस आत्मा को, उस आशा को, उस तड़प और उत्साह को, उस गली के भविष्य को कैसे इस चित्र में दिखाये? रात भर गोपाल खिड़की में बैठा यही सोचता रहा, मगर उसकी समझ में न आया—यहाँ तक कि सवेरा हो गया और सोती हुई गली आँखें मलती जाग उठी। औरतें फिर लाइन बनाकर नल के पास आ खड़ी हुईं। पनवाड़न ने अपनी दुकान खोलकर झाड़ना-पोंछना शुरू

कर दिया। कितनी ही रसोइयों से धुआँ निकलकर चिमनी के धुएँ में मिलने लगा—यही सब कुछ तो उसने अपनी तसवीर में भी दिखाया था। मगर जब उसकी निगाह छतों पर से होती हुई ऊपर उठी तो एक दम उसे पता चल गया कि उसकी तसवीर में किस चीज़ की कमी है। सुर्ख़ी की कमी...

सारे आकाश पर ऊषा की लाली फैली हुई थी, जैसे किसी सुन्दरी ने—जैसे रजनी ने—सोकर उठते ही अपने चेहरे पर पाउडर-सुर्ख़ी मल ली हो। और इस गुलाबी आकाश की पृष्ठभूमि में गली की गन्दगी और स्याही और उभर आयी थी। मगर यह मौत की स्याही नहीं थी, रात की स्याही थी—काली रात जो अब ख़त्म हो रही थी, सबेरे की सुर्ख़ी में घुलती जा रही थी ..

उसकी तसवीर के आकाश को भी सवेरे की, नये दिन की, आशा की सुर्ख़ी से जगमगा उठना चाहिए। यह भावना बिजली की तेज़ी के साथ उसके दिमाग़ में चमकी। मगर यह सुर्ख़ी आये कहाँ से! उसके पास लाल रंग तो था ही नहीं, न बाज़ार से खरीदने को पैसे थे ..

चित्र के आकाश में सुर्ख़ी तो ज़रूर होनी चाहिए...

गोपाल को याद आया कि उसी दिन तसवीर को प्रदर्शिनी के लिए भेजना था...।

मगर सुर्ख़ी न हुई तो तसवीर पूरी न होगी, अधूरी रहेगी। अधूरी ही नहीं, झूठी होगी...

सर्ख़ी कहाँ से आये!

ऊपर आसमान पर सुर्ख़ी छायी हुई थी, मगर गोपाल के हाथ वहाँ तक न पहुँच सकते थे कि ऊषा के चेहरे से उतार कर अपनी तसवीर में सुर्ख़ी भर दे।

तो क्या तसवीर अधूरी रह जायगी!

नहीं नहीं...

गोपाल को ऐसा लग रहा था कि तसवीर अधूरी रही तो उसका जीवन, उसकी मेहनत, उसकी कला, सब बेकार हो जायगी...

तीन रातें जागने के बाद उसका सर चकरा रहा था, हाथ-पाँव ताप से जल रहे थे, तमतमा रहे थे...

उसे अपना कमरा, सारे चित्र—महात्मा बुद्ध, भगवान कृष्ण, सावित्री और शकुन्तला, मुग़ल शाहज़ादी और राजपूत राजकुमारी, और हर एक चेहरे में से रजनी की याद झाँकती हुई, कमल के फूल हरी-भरी वादियाँ—हर चीज़ घूमती हुई लग रही थी। बस सिर्फ़ एक चीज़ अपनी जगह पर कायम थी—उसकी नयी बनायी हुई तसवीर, जो पूरी होने के लिए, शाहकार बनने के लिए, सुर्ख़ी की कुछ बूँदों की प्यासी थी ..

न जाने कैसे और कब गोपाल उस टूटे हुए शीशे के सामने खड़ा हो गया जिसमें देखकर वह दाढ़ी बनाया करता था। दर्पण में अपनी सूरत देख कर वह डर गया। दाढ़ी बढ़ी हुई, बाल उलझे और धूल में अटे हुए, कमीज़ के कालर पर काले पेंट के धब्बे, आँखों में लाल लाल डोरे और तमतमाते गालों पर सुर्ख़ी—बुख़ार में जलते हुए, खौलते हुए, दौड़ते हुए ख़ून की सुर्ख़ी...

* * *

कला-प्रदर्शिनी में सबसे अधिक भीड़ 'जहाँ मैं रहता हूँ'! के सामने थी। पहला इनाम भी उसी को मिला था।

कला को समझनेवाले, कला को परखने वाले, कला को ख़रदनेवाले कला को बेचनेवाले, कला की दलाली करनेवाले, कला की पूजा करनेवाले, कला के बारे में लम्बी चौड़ी डींगें मारनेवाले, सभी वहाँ मौजूद थे। सभी गोपाल के चित्र की प्रशंसा कर रहे थे—

"यह है सच्ची कला !"

"ज़िन्दगी का यथार्थ रूप !"

"कितनी जान है इस तसवीर में ! मुँह से बोलती है !"

"गोपाल ने चित्र नहीं बनाया, जीवन को दर्पण दिखाया है।"

"मगर दो सौ रुपये बहुत हैं इस तसवीर के।"

"कला का कोई मूल्य नहीं होता।"

"इस चित्र से रोमानी कला का युग समाप्त होता है और नयी प्रगतिशील कला के युग का आरम्भ होता है।"

"कितनी गहरी निगाह है आर्टिस्ट की—हर छोटी-से-छोटी चीज़ तक पहुँची है !"

"ऐसा लगता है, कलाकार ने महीनों इस गली में जा-जाकर वहाँ के जीवन का गहरा अध्ययन किया है।"

"इस पूरी गली को सिर्फ़ काले रंग से पेंट किया, इस खयाल की भी दाद देनी पड़ती है।"

"कितनी उदासी है इस स्याही में, कितना दुःख, कितना दर्द, कितना गहरा सन्नाटा— जैसे एक गली की तसवीर न हो, दुनिया के सारे ग़रीबों के जीवन की तसवीर हो।"

"हाँ, मगर आसमान पर जो ऊषा की लाली है, असल कमाल तो यही है कि जिससे तसवीर का मतलब ही बदल जाता है। बजाय निराशा के, यह चित्र जनता को उसके प्रकाशमय भविष्य की झलक दिखाता है।"

"यह सुर्ख़ रंग का इस्तेमाल सचमुच ख़ूब किया है।"

"और यह मामूली लाल रंग नहीं है—ख़ून जैसा सुर्ख़, जिसमें हल्की-हल्की स्याही दौड़ती जा रही है।"

"आर्टिस्ट ने जान-बूझ कर यह रंग लगाया है—मानो नये सवेरे की लाली जनता के ख़ून से जन्म लेती है।"

"जनता के ख़ून से, या कलाकार के ख़ून से?"

और इस पर सब ठहाका मार कर हँस पड़े। इतने में किसी ने कहा—"गोपाल आर्टिस्ट को भी देखा?

सबकी निगाहें घूम गयीं—"कहाँ? किधर?"

"वह क्या है! दुबला-सा, सूखा-सा नौजवान जो दीवार का सहारा लिये दूर से अपनी तसवीर की तरफ़ देख रहा है।"

"नहीं जी, वह नहीं हो सकता। इतना बड़ा कलाकार और ऐसे फटे-पुराने कपड़े......"

"मगर मैं कहता हूँ, यही है गोपाल।"

"बीमार मालूम होता है बेचारा! चेहरे का रंग तो देखो। बिलकुल पीला। मानो शरीर में ख़ून है ही नहीं।"

अश्क

की मूल प्रवृत्ति कथाकार की है या नाटककार की, कवि की अथवा आलोचक की ?

हिन्दी के लेखक और आलोचक सदा इस पर भिन्न मत प्रकट किया करते हैं; उपन्यासकार उसके नाटकों की प्रशंसा करते हैं और नाटककार उसे उपन्यासकार समझते हैं। कवि उसे कवि नहीं मानते हैं और आलोचक इस क्षेत्र में उसके पदार्पण को अनधिकार चेष्टा समझते हैं। लेकिन यह सत्य है कि आज कराची से कलकत्ता और काश्मीर से त्रिवेन्द्रम तक अश्क के उपन्यास पढ़े जाते और नाटक खेले जाते हैं।

लेकिन आप इस बहस मे न पड़िए; अश्क के चार नये ग्रन्थ देखिए और स्वयं पढ़कर निर्णय कीजिए।

मंटो : मेरा दुश्मन—उर्दू के बदनाम कहानी लेखक मंटो के बारे में अश्क का लम्बा संस्मरण। मंटो की छै प्रसिद्ध कहानियों और मंटो पर कृष्णचन्द्र के लेखों के साथ

अंधी गली—जो नाटक भी है और उपन्यास भी। अश्क ने अपने इस नवीनतम नाटक के सात दृश्यों में एक अंधी गली के जीवन का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित किया है।

ज्यादा अपनी, कम परायी—अश्क के लेखों, संस्मरणों निबंधों और स्केचों का दूसरा संग्रह।

पत्थर अल-पथर—काश्मीर सम्बन्धी अश्क का नवीन लघु उपन्यास!

हिन्दी का कोई भी पुस्तकालय जिसमें सम्पूर्ण अश्क साहित्य नहीं, पुस्तकालय कहलाने का अधिकार नहीं रखता। विस्तृत सूची पत्र के लिए लिखिए।

नीलाभ प्रकाशन

५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद—१